पंजीयन संख्या : 68939/98

ज्ञान तत्व

सत्यता एवं निष्पक्षता का निर्भीक पाक्षिक

JAN 2026
अंक - 24

486

श्रमशोषण और मुक्ति 3

श्रम शोषण और समाधान 4

MARGDARSHAK

प्रकाशन की तिथि - 16-01-2026 पोस्ट की तिथि - 31-01-2026

सिंहावलोकन

साथियों की कलम से....

7 **प्रश्नोत्तर**

9 **नई समाज व्यवस्था**

13 **मुसलमानों की आबादी और अपराध में अनुपात**

16 **ज़ूम चर्चा कार्यक्रम**

17 **यू जी सी इक्विटी नियम समावेशिता के नाम पर गलत दिशा की ओर जाती नीति? -ज्ञानेन्द्र आर्य**

18 **सत्ता और समाज- पवञ्जय त्रिपाठी**

19 **जीवन पथ**

20 **संस्थागत समाचार**

पत्र व्यवहार का पता

बजरंग लाल अग्रवाल पोस्ट बाक्स 15, रायपुर (छ.ग.) 492021

website : margdarshak.info

प्रकाशक, संपादक व स्वामी - बजरंगलाल

9617079344

mail : Support@margdarshak.info

मुख्य कार्यालय-
ज्ञानयज्ञ परिवार आश्रम
रामानुजगंज छत्तीसगढ़ 497220
8318621282, 9630766001

लोक स्वराज अभियान
303 कृष्णा शिप्रा अजूरा अपार्टमेंट कौशांबी
गाजियाबाद 201012
9325683604, 9012432074

प्रधान संपादक
बजरंग लाल अग्रवाल
(बजरंग मुनि)

संपादक मण्डल
नरेन्द्र सिंह
संजय तिवारी
विपुल आदर्श

सहयोगी संपादक
ज्ञानेन्द्र आर्य

सदस्यता नियमन
संजय गुप्ता 872669477
कुशल दुबे 7999934238

सज्जा
लाल बाबू रवि

वितरण एवं मुद्रण सहयोग
रबीन्द्र विश्वास

श्रमशोषण और मुक्ति

बजरंग मुनि
प्रधान संपादक

व्यक्ति अपने जीवनयापन के लिए तीन माध्यमों का उपयोग करता है (1) श्रम (2) बुद्धि (3) धन। जिस व्यक्ति के जीवनयापन की आधे से अधिक आय शारीरिक श्रम से होती है उसे श्रमजीवी कहा जाता है। जिसकी आधे से अधिक आय बुद्धिप्रधान कार्यों से होती है उसे बुद्धिजीवी तथा जिस बुद्धिजीवी की आधे से अधिक आय धन के माध्यम से होती है उसे पूँजीपति माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास श्रम भी होता है, बुद्धि भी होती है तथा धन भी होता है। किन्तु किसी व्यक्ति में एक से अधिक गुण प्रधान नहीं होते। प्रधान तो एक ही होता है, अन्य तो सहायक होते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय श्रम, बुद्धि या धन की प्रधानता को अपनी क्षमता के अनुसार कभी भी बदल लेता है। श्रमजीवी भी कभी पूँजीपति बन जाता है तो पूँजीपति भी कभी श्रमजीवी। पूँजीपति या बुद्धिजीवी कभी गरीब नहीं हो सकता। आमतौर पर श्रमजीवी ही तथा कुछ मात्रा में अधिक अच्छे बुद्धिजीवी, जिन्हें प्राचीन समय में ब्राह्मण कहा जाता था तथा जिन्होंने सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत सर्वोच्च सम्मान के लिए गरीब रहना स्वीकार किया है, वे ही गरीब होते हैं। अन्यथा कोई भी बुद्धिजीवी कभी गरीब नहीं हो सकता क्योंकि श्रमजीवी के पास श्रम के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है जबकि बुद्धिजीवी और पूँजीपति के पास एक से अधिक विकल्प हमेशा मौजूद रहते हैं। श्रमजीवी की अधिकतम आय 15000 रु मासिक से अधिक नहीं हो सकती किन्तु बुद्धिजीवी की अधिकतम आय लाखों रुपये मासिक तक हो सकती है और पूँजीपति की अधिकतम आय करोड़ों रु मासिक तक हो सकती है। सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार भारत में करीब 20 करोड़ ऐसे लोग मौजूद हैं जिनकी मासिक आय प्रतिव्यक्ति 1500 रु और पाँच व्यक्तियों के परिवार की 10000 से भी कम है। सरकार के अनुसार ऐसे व्यक्तियों की प्रतिव्यक्ति दैनिक आय 50 रु और दैनिक श्रममूल्य 300 रु के आसपास है। प्राचीन समय में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों को भिक्षा माँगने का विकल्प भी दिया गया था। इनमें गरीब, श्रमजीवी तथा गरीब ब्राह्मण शामिल थे। बाद में इसमें विकृति आ गई। श्रमशोषण कब से शुरू हुआ इसका इतिहास मुझे नहीं मालूम। इतना अवश्य पता है कि बहुत प्राचीन समय में समाज में श्रमशोषण नहीं था। योग्यता अनुसार परीक्षा के बाद वर्ण का निर्धारण होता था। कालांतर में धीरे-धीरे विकृति आई और बुद्धिजीवियों ने श्रमशोषण प्रारंभ कर दिया अर्थात जन्म से ही वर्ण का निर्धारण होने लगा। ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण और श्रमिक का लड़का श्रमिक रहने के लिए और जीवन भर रहने के लिए अधिकृत और बाध्य कर दिया गया। यही है श्रमशोषण का इतिहास। योग्यता रहते हुए भी कोई व्यक्ति अपने वर्णों से बाहर नहीं जा सकता था। इस तरह की विकृति के परिणामस्वरूप भारत लंबे समय तक गुलाम भी रहा किन्तु उसने इस विकृति से छुटकारा नहीं किया। इस प्रकार का बौद्धिक आरक्षण ही भारत की गुलामी का मुख्य कारण था। स्वामी दयानंद तथा गाँधी ने इस समस्या को दूर करने का प्रयत्न किया किन्तु भीमराव अंबेडकर ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण सब गुड़-गोबर कर दिया। स्वतंत्रता के बाद भी बुद्धिजीवियों ने अपना षड्यंत्र जारी रखा। स्वतंत्रता के पूर्व समाज में सामाजिक आरक्षण था, कानूनी नहीं, किन्तु स्वतंत्रता के बाद बुद्धिजीवियों ने ऐसे आरक्षण को कानूनी जामा भी पहना दिया। अंतर यह हुआ कि स्वतंत्रता के पूर्व शतप्रतिशत आरक्षण सवर्ण बुद्धिजीवियों का था तो स्वतंत्रता के बाद अंबेडकर, नेहरू का समर्थन पाकर उस शतप्रतिशत आरक्षण में से 20-25 प्रतिशत आरक्षण अवर्ण बुद्धिजीवियों ने भी लेकर श्रमशोषण के अपवित्र कार्य में हिस्सेदार बना लिया। यह लूट के माल में हिस्सेदारी बाकायदा कानून बनाकर हुई और आज भी जारी है। भारत के आदिवासियों और हरिजनों की कुल आबादी में स्वतंत्रता के समय भी 90 प्रतिशत श्रमजीवी थे और आज भी 90 प्रतिशत ही हैं। शेष 10 प्रतिशत आदिवासी-हरिजन बुद्धिजीवियों ने अपने श्रमजीवी भाइयों के शोषण में हिस्सेदारी लेकर सवर्ण बुद्धिजीवियों के साथ समझौता कर लिया। आज भी आप देखेंगे कि आरक्षण की लड़ाई में सवर्ण बुद्धिजीवी और अवर्ण बुद्धिजीवी ही आपस में टकराते रहते हैं किन्तु दोनों में से कोई भी समूह 90 प्रतिशत श्रमजीवियों की चिंता नहीं करता। आज भी आप देखेंगे कि भारत का हर बुद्धिजीवी चाहे वह सवर्ण हो या अवर्ण, पूरी ईमानदारी से भीमराव अंबेडकर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है क्योंकि डॉ. अंबेडकर ने ही उन्हें मिलकर श्रमशोषण का कानूनी लाइसेंस प्रदान कराया है। भारत में लोकतांत्रिक तरीके से सफलतापूर्वक श्रमशोषण के लिए चार माध्यम अपनाए जाते हैं (1) आरक्षण (2) कृत्रिम ऊर्जा मूल्य नियंत्रण (3) शिक्षित बेरोजगारी (4) श्रममूल्य वृद्धि। सबसे बड़ा आश्चर्य है कि इन चार आधारों पर बुद्धिजीवी श्रम का शोषण भी करते हैं तथा इन्हें श्रम समस्याओं का समाधान भी बताते हैं। इस कार्य में सबसे ज्यादा भूमिका वामपंथियों की रही है। वामपंथी पूरी ताकत से चारों आधारों पर सक्रिय रहते हैं किन्तु अब तो धीरे-धीरे सभी बुद्धिजीवियों को श्रमशोषण में मजा आने लगा है और भारत का हर बुद्धिजीवी और पूँजीपति इन चारों सिद्धांतों को विस्तार देने में लगा रहता है। आरक्षण की चर्चा तो हम ऊपर कर चुके हैं। कृत्रिम ऊर्जा मूल्य नियंत्रण भी आज लगातार जारी है। स्पष्ट है कि

कृत्रिम ऊर्जा श्रम की प्रतिस्पर्धा मानी जाती है और श्रम की मांग तथा मूल्यवृद्धि में बाधक होती है किन्तु भारत में कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य सिर्फ इसलिए नहीं बढ़ने दिया जाता क्योंकि उससे श्रम का मूल्य और मांग बढ़ जाएगी। कृत्रिम ऊर्जा सस्ती हो यह बहुत बड़ा षड्यंत्र है, श्रम का शोषण करने का यह पूँजीवादी मंत्र है। दुनिया जानती है कि शिक्षित व्यक्ति कभी बेरोजगार नहीं हो सकता, भले ही वह उचित रोजगार की प्रतीक्षा में बेरोजगार बने रहने का नाटक ही क्यों न करे, किन्तु हमारे बुद्धिजीवियों ने बेरोजगारी की एक नकली परिभाषा बनाकर उस परिभाषा के आधार पर शिक्षित लोगों को भी बेरोजगार घोषित करना शुरू कर दिया। आज तक इस परिभाषा में कोई संशोधन नहीं किया जा रहा है। कितने दुख की बात है कि श्रमजीवियों द्वारा उत्पादित कृषि उपज, वन उपज पर भारी टैक्स लगाकर शिक्षा पर भारी खर्च किया जा रहा है। बेशर्म बुद्धिजीवी आज भी शिक्षा का बजट बढ़ाने की अन्यायपूर्ण मांग करते देखे जाते हैं किन्तु कोई नहीं कहता कि गरीब ग्रामीण श्रमजीवी द्वारा उत्पादन और उपभोग की वस्तुओं पर टैक्स लगाकर शिक्षा पर व्यय करना अन्याय ही नहीं बल्कि अत्याचार भी है। भारत का हर संगठन यह मांग करता है कि श्रम का मूल्य बढ़ाया जाए। एक सीधा-सा सिद्धांत है कि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ता है तो मांग घटती है और मांग घटती है तो मूल्य घटता है। स्पष्ट है कि भारत में दो प्रकार के श्रम मूल्य चल रहे हैं (1) मांग के आधार पर (2) घोषणा के आधार पर। ज्यों ही सरकार श्रम मूल्य बढ़ाती है त्यों ही श्रम की मांग घटकर मशीनों की ओर बढ़ जाती है और श्रम के बाजार मूल्य तथा कृत्रिम मूल्य के बीच दूरी बढ़ जाती है। आज भी यह दूरी निरंतर बनी हुई है और इसे घटाने का प्रयास न करके बढ़ाने का प्रयास हो रहा है।

इसके पक्ष में तर्क दिया जाता है कि दुनिया के अनेक विकसित देश इस आधार पर प्रगति कर रहे हैं किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि वे विकसित देश श्रम-अभाव देश हैं और भारत श्रम-बहुल देश। यदि हम साम्यवादी देशों की नकल कर रहे हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साम्यवाद में व्यक्ति राष्ट्रीय सम्पत्ति माना जाता है और भारत में स्वतंत्र जीव। साम्यवाद में व्यक्ति को मूल अधिकार नहीं होते और भारत में ऐसे अधिकार होते हैं।

इसलिए साम्यवाद या पश्चिम के देशों की नकल करते हुए यदि भारत में श्रमशोषण को न्यायसंगत ठहराया जाता है तो यह अमानवीय है और चाहे सारी दुनिया ऐसे श्रमशोषण के विरुद्ध भले ही आवाज न उठाए किन्तु मैं तो ऐसे अमानवीय कृत्य के विरुद्ध आवाज उठाऊँगा। श्रम के विरुद्ध बुद्धिजीवियों का इतना बड़ा षड्यंत्र होते हुए भी यदि चुप रहा जाए तो मेरी दृष्टि में यह पाप है। अब तक भारत में यदि नक्सलवाद दिखता रहा है तो उसके अनेक कारणों में यह कारण भी एक है। नक्सलवादियों को यह बहाना मिला हुआ था। आप विचार करिए कि बुद्धिजीवियों द्वारा इस तरह श्रमजीवियों के साथ लोकतांत्रिक षड्यंत्र होता रहे और हम चुपचाप देखते रहें यह कैसे उचित और संभव है। 30 वर्ष पहले तो मुझे कभी-कभी ऐसा लगता था कि मैं भी बंदूक उठाकर नक्सलवादियों के साथ हो जाऊँ किन्तु अग्रवाल परिवार में जन्म लेने तथा ब्राह्मण प्रवृत्ति के संस्कार मुझे रोक देते थे। फिर भी मैं अपनी आवाज उठाने से चुप नहीं रह सकता। भारत में श्रमशोषण से मुक्ति के कुछ उपाय किए जा सकते हैं

(1) परिवार व्यवस्था को सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में कानूनी मान्यता दी जानी चाहिए। गरीब या बेरोजगार व्यक्ति नहीं, परिवार माना जाना चाहिए।

(2) गरीब ग्रामीण श्रमजीवी के सभी प्रकार के उत्पादन और उपभोग की वस्तुओं को करमुक्त करके सारा टैक्स कृत्रिम ऊर्जा पर लगा देना चाहिए।

(3) शिक्षा पर होने वाला सारा बजट शिक्षा प्राप्त कर रहे या कर चुके लोगों से पूरा किया जाना चाहिए।

(4) सरकार जो भी श्रममूल्य घोषित करे, उस श्रममूल्य पर किसी भी बेरोजगार को रोजगार देने की सरकारी बाध्यता होनी चाहिए।

मैं समझता हूँ कि अभी यदि इतने भी उपाय कर लिए जाएँ तो श्रम, बुद्धि और धन के बीच बढ़ती हुई अन्यायपूर्ण दूरी कम हो सकती है। और भी अन्य उपाय हो सकते हैं किन्तु श्रमशोषण में सक्रिय चार व्यवस्थाओं पर तत्काल रोक लगनी चाहिए। यदि श्रम के साथ न्याय नहीं हुआ तो यह कभी भी समाज में शांति स्थापित होने नहीं देगा। बंदूकें कुछ समय के लिए आवाज को रोक सकती हैं किन्तु सदा के लिए नहीं रोक सकतीं। मैं समझता हूँ कि इस विषय पर गंभीरता से विचार-मंथन का प्रयास होना चाहिए।

श्रम शोषण और समाधान

प्रारंभ से ही दुनिया में चार प्रकार की व्यवस्था के परिवार पाए जाते हैं-(1) बुद्धि, (2) शक्ति, (3) धन, (4) श्रम।

इसी आधार पर वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ जिसमें योग्यता का आकलन करके मूल वर्ण "शूद्र" से ऊपर के तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में स्थानांतरित करने की व्यवस्था घोषित की गई। वर्ण निर्धारण पूरी तरह गुण, कर्म, स्वभाव पर निर्भर था, जन्म पर नहीं, किन्तु कालांतर में व्यवस्था में शिथिलता के कारण व्यवस्था रूढ़ बन गई और उसमें जन्मानुसार वर्ण की विकृति पैदा हुई। आदर्श वर्ण व्यवस्था में श्रमजीवी का अर्थ शूद्र होता था, जो विकृत वर्ण व्यवस्था में शूद्र का अर्थ श्रमजीवी के रूप में बदल गया। श्रमजीवी के बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ अथवा पूँजीपति बनने के द्वार सदा के लिए बंद कर दिए गए। परिणामस्वरूप श्रमजीवी कभी व्यवस्था के ऊपर के तीन साझीदारों में भागीदारी कर ही नहीं सका। स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली। संवैधानिक रूप से वर्ण चयन योग्यता अनुसार होने

लगा। शारीरिक शक्ति-बल व्यवस्था से बाहर कर दिया गया और पूँजीपति, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी नाम से तीन वर्ण ही व्यवस्था में रह गए। पूँजीप्रधान और बुद्धिप्रधान लोगों ने संवैधानिक व्यवस्था का ऐसा ताना-बाना बुना कि श्रमप्रधान वर्ग को भी व्यवस्था से पूरी तरह बाहर कर दिया गया। अब व्यवस्था में दो ही वर्ग बच गए-(1) धन (2) बुद्धि अर्थात् बुद्धिजीवी और पूँजीपति।

स्वतंत्रता के बाद की व्यवस्था में बुद्धिजीवियों का वर्चस्व हुआ। इन लोगों ने व्यवस्था का जो स्वरूप बनाया उससे परिवार और गाँव को बिल्कुल बाहर करके सारा दायित्व अपने पास केंद्रित कर लिया। श्रमजीवियों की व्यवस्था में शामिल होने की भूख की आंशिक पूर्ति परिवार और स्थानीय इकाई की व्यवस्था में हो सकती थी किन्तु परिवार और स्थानीय इकाई को संवैधानिक व्यवस्था में नितांत पारिवारिक और स्थानीय मामलों में भी स्वतंत्र निर्णय के अधिकार से वंचित कर देने के कारण श्रमजीवी व्यवस्था से पूरी तरह बाहर हो गए। उनकी व्यवस्था का सारा संवैधानिक दायित्व शासन अर्थात् बुद्धिजीवियों का हो गया जिसमें श्रमजीवियों की भूमिका शून्य थी। श्रमजीवियों की कुल आबादी भारत में आधे से अधिक थी। श्रमजीवियों से प्रत्यक्ष टकराव संभव नहीं था। अतः बुद्धिजीवियों ने श्रमजीवियों को धोखे में रखकर समाज में अपनी नीतियाँ बनानी शुरू कर दीं। पूरे विश्व में पूँजी का प्रभाव सिद्ध हो चुका था। पूँजीवाद से संघर्ष के लिए कुछ बुद्धिजीवियों ने श्रम उत्थान का मुखौटा लगाकर वामपंथ के नाम से बुद्धिजीवियों का नेतृत्व करना शुरू कर दिया। इन्होंने पचहत्तर वर्षों में इस बात का विशेष ख्याल रखा कि-(1) श्रमजीवियों की तकलीफें कभी दूर न हों,
(2) श्रमजीवियों को निरंतर तकलीफ दूर होती हुई दिखें,
(3) श्रमजीवियों को निरंतर यह आभास होता रहे कि भारतीय शासन व्यवस्था में श्रमजीवियों का भी उचित प्रतिनिधित्व है, भले ही उन श्रमजीवियों का वर्तमान में श्रम से दूर-दूर तक का संबंध न हो। मैं मानता हूँ कि किसी भी व्यवस्था में श्रमजीवियों की कोई भूमिका हो ही नहीं सकती किन्तु पारिवारिक और स्थानीय व्यवस्था में यदि ऊपरी हस्तक्षेप शून्य हो जाता तो सम्पूर्ण व्यवस्था के नीचे के आधे हिस्से में उनकी भागीदारी संभव थी। पंचायती राज व्यवस्था के नाम पर स्थानीय इकाइयों को प्रशासनिक अधिकारों का एक टुकड़ा फेंककर उस कार्य की पूर्ति का प्रचार भले ही किया जा रहा हो किन्तु स्थानीय इकाइयों को विधायी अधिकार मिले बिना सब अपूर्ण ही है। दूसरी बात, व्यवस्था यह भी कर सकती थी कि श्रम की माँग और मूल्य को बढ़ने देकर श्रमजीवियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की गारंटी तो तत्काल दे सकती थी। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया और श्रमजीवियों का पूँजीवादियों से सत्ता संघर्ष में सिर्फ ढाल के रूप में उपयोग मात्र किया। बुद्धिजीवियों ने श्रमजीवियों को अंधेरे में रखने के लिये पाँच काम किये
(1) जोर-शोर से प्रचारित किया कि कृत्रिम ऊर्जा श्रम सहायक है जबकि पूरी तरह सच्चाई यह है कि कृत्रिम ऊर्जा श्रम प्रतिस्पर्धी है, सहायक नहीं।
(2) बुद्धि को रोजगार से जोड़ दिया जबकि सच्चाई यह है कि रोजगार के मामलों में श्रम ही अतिरिक्त सहायता का पात्र है, बुद्धि नहीं। बुद्धिजीवियों ने श्रम को कमजोर करने के लिये शिक्षित बेरोजगार नामक एक नया शब्द तैयार कर दिया।
(3) आम नागरिक नामक एक नया शब्द प्रचारित कर दिया। इससे बुद्धिजीवियों को भी श्रमजीवियों और गरीबों के साथ मिला देने में बहुत सुविधा हो गई।
(4) श्रम मूल्य इतना बढ़ा दिया कि श्रम की मांग भी कम हो गई और बाजार मूल्य भी कम हो गया।
(5) श्रमजीवियों को जाति के नाम पर बाँटकर दलित, आदिवासी और पिछड़ों के नाम पर ऐसी राजनीति की कि श्रमजीवी दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों को भी बुद्धिजीवी दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों के उत्थान में सुख का अनुभव होने लगा। श्रमजीवी दलित भी मायावती और पासवान के उत्थान में अपना उत्थान महसूस करने लगा। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी का वर्ग विभाजन तो किनारे हो गया और जातिवादी आरक्षण आगे आ गया।

श्रमजीवी व्यवस्था के भागीदार तो नहीं बन सकते यह सच है। यदि कोई ऐसा आश्वासन भी दे तो वह गलत है क्योंकि परिवार और स्थानीय इकाई के ऊपर वास्तविक श्रमजीवी की उपयोगी भूमिका संभव नहीं और यदि कोई चला भी गया तो वह श्रमजीवी वर्ग से बुद्धिजीवी वर्ग में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु श्रमजीवी वर्ग को गरीबी रेखा से तो तत्काल बाहर किया जा सकता है। श्रमजीवियों के श्रम का बाजार मूल्य तो बढ़ सकता है। आखिर कौन-सी मजबूरी है कि परमाणु बम बनाने और चाँद पर जाने तक की क्षमता रखने वाला भारत अपने श्रमजीवियों को न्यूनतम घोषित श्रम मूल्य की सीमा रेखा से ऊपर नहीं कर सकता या गरीबी रेखा को समाप्त नहीं कर सकता। यह काम तो बिल्कुल आसान काम है। भारत की वर्तमान व्यवस्था इन लोगों को खाद्यान्न सब्सिडी, शिक्षा पर खर्च और अनेक योजनाओं पर भारी-भरकम खर्च का नाटक भी तो कर रही है। फिर ये लोग क्यों नहीं इतना आसान काम करते? नहीं करेंगे क्योंकि ऐसा करने से तो श्रम के नाम पर श्रम शोषण का पूरा नाटक ही खत्म हो जाएगा, जो नाटक ये लोग पचहत्तर वर्षों से सफलतापूर्वक करते आ रहे हैं। बुद्धिजीवियों ने बहुत चालाकी से प्रत्यक्ष सहायता तथा श्रम शोषण के सिद्धांतों को अर्थव्यवस्था का ही अंग बना दिया। परिणाम बहुत भयंकर हुआ। चार बातें साफ-साफ दिखने लगीं (1) ग्रामीण अर्थव्यवस्था चरमरा गई। श्रम की मांग और श्रम का अधिक मूल्य भी गाँवों की अपेक्षा शहरों में केंद्रित हुआ। गाँव से बड़ी संख्या में आबादी का शहरों की ओर पलायन हुआ जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण शहरों में बनी नारकीय सुविधा-युक्त झुग्गी-झोपड़ियाँ हैं।

(2) श्रमप्रधान कृषि अलाभकर और मशीनप्रधान कृषि लाभकर होने लगी। छोटे कृषि प्रयासों का बड़े कृषि प्रयासों में समाहित होना या बंद होना साफ देखा जा सकता है। यही हाल श्रमप्रधान उद्योगों का हुआ।
(3) पूरे देश की औसत विकास दर आठ प्रतिशत है। इनमें से तैंतीस प्रतिशत गरीब श्रमजीवी ग्रामीण किसानों की औसत एक प्रतिशत, तैंतीस प्रतिशत मध्यम बुद्धिजीवी शहरी लोगों की आठ प्रतिशत और तैंतीस प्रतिशत ऊपर वालों की औसत पंद्रह प्रतिशत है जबकि उल्टा होना चाहिए था।
(4) देश के सारे श्रमजीवी गरीबी रेखा से नीचे की श्रेणी में हैं। एक भी श्रमजीवी गरीबी रेखा से ऊपर नहीं है यद्यपि कुछ बेरोजगार बुद्धिजीवी भी गरीबी रेखा के नीचे हैं।

इतने गंभीर और विनाशकारी परिणाम दिखने के बाद भी देश के मार्गदर्शक बुद्धिजीवी धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता, लिंग, उम्र, उत्पादक-उपभोक्ता जैसे विघटनकारी भ्रमोत्पादक मुद्दों को आगे ला-लाकर श्रम के महत्व को पीछे ढकेलने के लिये प्रयत्नशील हैं। ये लोग आर्थिक असमानता के विरुद्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष संघर्ष न छेड़कर बालश्रम और कन्या भ्रण हत्या के विरुद्ध आवाज उठाते रहते हैं जबकि श्रम शोषण और आर्थिक असमानता बालश्रम और कन्या भ्रूण हत्या की अपेक्षा कई गुना अधिक विस्फोटक अन्याय है। मैंने एक सर्वेक्षण किया तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भारत के कुल बजट में शहर की अपेक्षा गाँव दस गुना अधिक रेवेन्यू देता है किन्तु वह धन शहर के खातों में जमा करके शहरी रेवेन्यू की मात्रा अधिक बताई जाती है। खेती की जितनी पैदावार होती है उसका निन्यानवे प्रतिशत उत्पादन गाँव से होता है किन्तु शहरी व्यापारी उसका टैक्स इकट्ठा करता है और वह शहरी टैक्स बन जाता है। सम्पूर्ण वनोपज और खनिज भी ग्रामीण उत्पादन ही हैं। उत्पादन और ग्रामीण उपभोग की वस्तुओं पर टैक्स लगा-लगाकर शहरी टैक्स बताने का घपला लगातार भारत में चल रहा है। आज भारत में अनेक ऐसे नासमझ समाजसेवकों की बाढ़ आई हुई है जिनके कारण किसान आत्महत्या के नाम पर बड़े किसानों को फायदा पहुँच रहा है। खाद, बीज, बिजली के दाम घटाए जा रहे हैं और कर्ज माफ हो रहा है। इन चालाक लोगों ने बेरोजगारी के साथ शिक्षा शब्द जोड़कर श्रम शोषण का नया हथियार तैयार कर लिया है। ये लोग शिक्षा को प्रगति का आधार बता-बताकर शिक्षा पर अत्यधिक खर्च करवाने का भी प्रयत्न करते रहते हैं जबकि शिक्षा से अशिक्षित श्रमिक को कोई लाभ नहीं मिल सकता जब तक वे शिक्षित न हों। इसके विपरीत शिक्षा ने श्रमिक शोषण अधिक किया है। सच्चाई यह है कि श्रम शोषण की सारी योजनाएँ बनाने वाले अधिकांश लोग शिक्षित ही हैं, अशिक्षित नहीं। श्रम की प्रतिस्पर्धा तकनीक से है यह सच होते हुए भी तकनीक विकास का मुख्य आधार है। न तो तकनीक को श्रमशोषण

के लिये खुला छोड़ना उचित है, जैसा कि वर्तमान में हो रहा है और न ही तकनीक को बिल्कुल रोका जा सकता है, जैसा वर्तमान गांधीवादी मित्र मांग करते हैं। उचित मार्ग तो यही होगा कि श्रम को तकनीक से प्रतिस्पर्धा के पर्याप्त अवसर दिये जाएँ और तकनीक से प्राप्त लाभ का कुछ अंश श्रमजीवियों को सहायता के रूप में दिया जाए। बुद्धिजीवियों ने एक गुप्त षड्यंत्र के अंतर्गत तकनीक को सुविधा प्रदान करने के लिये श्रम उत्पादित और श्रम उपभोग की वस्तुओं तक पर कर लगा दिया। यदि हम ऐसे सभी प्रकार के कर समाप्त कर दें तथा गरीबी रेखा के नीचे वालों को दो हजार रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह की सब्सिडी दे दें और बदले में कृत्रिम ऊर्जा (डीजल, बिजली, पेट्रोल, मिट्टी तेल, कोयला, गैस) पर उतना ही कर बढ़ा दें जितना आवश्यक हो, तो बेरोजगारी भी पूरी तरह समाप्त हो सकती है और गरीबी रेखा भी एक बार में ही समाप्त हो सकती है। इस प्रयत्न से श्रम तकनीक से प्रतिस्पर्धा कर लेगा। इससे आवागमन इतना महंगा होगा कि ग्रामीण उद्योग बहुत विकास करेंगे। कृत्रिम ऊर्जा की मूल्य वृद्धि से श्रमिक खेती भी बढ़ेगी। साथ ही आवागमन महंगा होने के बावजूद उपभोक्ता वस्तुएँ सस्ती हो जाएँगी, क्योंकि कई तरह के टैक्स समाप्त हो जाएँगे। श्रम शोषण एक गंभीर समस्या है। श्रमजीवियों का व्यवस्था पर से विश्वास उठने लगा है। कुछ बुद्धिजीवी इस असंतोष को नक्सलवाद के रूप में हिंसक स्वरूप देने का प्रयास कर रहे थे, जिसमें वे असफल हुए। श्रमजीवी बुद्धिजीवियों के इस षड्यंत्र में पिस रहा है। श्रमशोषण रुकना आवश्यक है और यह तभी रुक सकता है जब बुद्धिजीवियों का एक वर्ग ईमानदारी से श्रम न्याय की दिशा में आगे बढ़े। यह काम कठिन भी है क्योंकि स्वार्थी बुद्धिजीवियों पूँजीपतियों के गठजोड़ ने श्रमजीवी गरीब ग्रामीण तक के मन में कृत्रिम ऊर्जा को श्रम सहायक और शिक्षा प्रसार को गरीब विकास के लिये आवश्यक सिद्ध कर रखा है। यह भ्रम दूर करना कठिन होते हुए भी कोई दूसरा मार्ग नहीं है। हम सबको मिल-जुलकर इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। हमें मिल-जुलकर श्रम शोषण मुक्ति अभियान के इस नारे पर गंभीर बहस छेड़नी चाहिए
“कृत्रिम ऊर्जा सस्ती हो यह बहुत बड़ा षड्यंत्र है, श्रम का शोषण करने का यह पूँजीवादी मंत्र है।”

प्रश्नोत्तर

1) श्री महेश भाई, विजयीपुर, गोपालगंज, बिहार, दिसंबर 2004

प्रश्न- आज हम अर्थनीति के जिस मकड़जाल में उलझ गए हैं उससे निकलने की कोई राह नहीं दिखती। जिन कारकों ने आर्थिक असंतुलन पैदा किया है उनकी पहचान करना तथा निराकरण खोजना वर्तमान आर्थिक योजनाओं के बस की बात नहीं दिखती। कुल राष्ट्रीय आय का मकड़जाल वास्तविक श्रम मूल्य को ही निगल रहा है। वास्तविक श्रम मूल्य और कृत्रिम श्रम मूल्य का अंतर कैसे दूर हो, वास्तविक श्रम मूल्य का निर्धारण कैसे किया जाए आदि ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनका उत्तर खोजे बिना अर्थव्यवस्था की गाड़ी एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकती। जिस स्तर पर कृत्रिम ऊर्जा की शक्ति की इकाई को अश्वशक्ति के रूप में मापित किया गया है, उसी प्रकार मानवीय श्रम का उचित और सम्मानजनक मूल्य दिलवाना संभव हो सका है। यह तभी संभव है जब भारत के आर्थिक विशेषज्ञों के साथ-साथ श्रमिकों को भी यह वास्तविकता समझ में आ जाए कि कृत्रिम ऊर्जा का हर उत्पादक इकाई पर आधिपत्य जमाना श्रम के लिए घातक है। जब तक कृत्रिम ऊर्जा का आकर्षण और वर्चस्व कायम रहेगा तब तक वास्तविक श्रम मूल्य उपेक्षित रहेगा ही। श्रम मूल्य तभी बढ़ेगा जब मांग बढ़ेगी और मांग तभी बढ़ेगी जब कृत्रिम ऊर्जा महंगी होगी। किन्तु यह तकनीक आम नागरिकों को समझाना कठिन कार्य है क्योंकि साइकिल पर टैक्स है यह कोई नहीं जानता और न उसे जानने दिया जाता है, किन्तु कृत्रिम ऊर्जा की मूल्यवृद्धि का बहुत प्रचार किया जाता है। यहाँ तक तो मैं आपके कथन से अक्षरशः सहमत हूँ। किन्तु आपने श्रमप्रधान और बुद्धिप्रधान का पृथक-पृथक आंकलन करके श्रमप्रधानों के अपेक्षाकृत अधिक उपयोग की वस्तुओं में अनाज, कपड़ा, दवा आदि को शामिल किया और बुद्धिजीवियों की अधिक उपयोग की वस्तुओं में कृत्रिम ऊर्जा को। यह आंकलन पूरी तरह गलत या भ्रामक है। वास्तविकता यह है कि अनाज, कपड़ा, दवा आदि वस्तुएँ श्रमजीवी या बुद्धिजीवी पृथक-पृथक मात्रा में उपयोग नहीं करते हैं। इसी तरह पशुचारा या लघु वनोपज के उपयोग में भी श्रमजीवी-बुद्धिजीवी का अंतर नहीं है। टेलीफोन भी आम उपयोग की वस्तु बन गई है। परदेश कमाने वाला अपने बच्चों से बात करने में टेलीफोन की ही सहायता लेता है। मेरे विचार में वस्तुओं का वर्गीकरण दो ही होना चाहिए

(1) जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ

(2) विलासिता की वस्तुएँ

विलासिता की वस्तुओं पर कर अधिक लगे और आवश्यक वस्तुएँ करमुक्त हों इतनी सतर्कता ही पर्याप्त है।

उत्तर- आपने कृत्रिम ऊर्जा और श्रम की तुलना बहुत ही सूक्ष्म विवेचना से की है। यह हमारे लिए संतोष की बात है किन्तु आपके दूसरे बिंदु पर गंभीर विचार करने की आवश्यकता है। आय की दृष्टि से व्यक्ति तीन प्रकार के हैं-

1. **श्रमप्रधान**
2. **बुद्धिप्रधान**
3. **धनप्रधान**

जिस व्यक्ति की आय के मुख्य स्रोत सिर्फ शारीरिक शक्ति पर निर्भर हैं उसे श्रमप्रधान कहते हैं। ऐसे व्यक्ति की सम्पूर्ण आय में श्रम की भूमिका निर्णायक और बुद्धि की आंशिक ही होती है। ऐसे व्यक्ति के पास आय का मुख्य स्रोत एकमात्र श्रम ही होता है और श्रम की अधिकतम आय में बौद्धिक श्रम का विशेष और शारीरिक श्रम का सहायक प्रयोग होता है। ऐसे व्यक्ति के पास बुद्धि और श्रम दोनों ही आय के लिए उपलब्ध होते हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति को धनप्रधान कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के पास श्रम, बुद्धि और धन तीनों ही आय में सहायक होते हैं। ऐसे व्यक्ति की आय की कोई सीमा नहीं होती क्योंकि उसके पास उपलब्ध धन उसकी आय में वृद्धि करता है। ऐसे व्यक्ति बहुत तीव्र गति से धन बढ़ाते जाते हैं। मेरा अपना अनुभव है कि श्रमप्रधान व्यक्ति की आय और व्यय, बुद्धिप्रधान की अपेक्षा बहुत कम और सीमित होता है।

अब हम उपभोग पर विचार करें तो उपभोग की वस्तुएँ तीन प्रकार की होती हैं

1. **अनिवार्य उपभोग की**
2. **सुविधा की**
3. **विलासिता की।**

यह पूरी तरह प्रमाणित है कि श्रमप्रधान व्यक्ति का भोजन बुद्धिप्रधान की अपेक्षा करीब पैंतीस प्रतिशत अधिक होता है। सरकारी नियमों में भी श्रमप्रधान को अनाज पाँच सौ पच्चीस ग्राम प्रतिदिन और बुद्धिप्रधान के लिए तीन सौ नब्बे ग्राम प्रतिदिन ही निर्धारित है। बुद्धिप्रधान व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार अन्य कई वस्तुएँ खाकर इस अनाज की मात्रा को और कम कर लेता है जबकि श्रमप्रधान कम नहीं कर पाता। अन्न की खपत पर और सूक्ष्म विश्लेषण किया गया तो पाया गया कि भारत में श्रमजीवियों की संख्या सत्तर प्रतिशत, बुद्धिजीवियों की बीस प्रतिशत और पूँजीपतियों की दस प्रतिशत है। वस्तुओं की खपत का अनुमान कुछ इस तरह है। सत्तर प्रतिशत श्रमजीवी 85 प्रतिशत अनाज का उपयोग करते हैं जबकि 20 प्रतिशत बुद्धिजीवी 15 प्रतिशत और पूँजीपति नगण्य। उपरोक्त अनुमानों से स्वयं

सिद्ध है कि भारत का श्रमजीवी 85 प्रतिशत अनाज उपभोग करता है और बुद्धिजीवी पंद्रह प्रतिशत। किन्तु टेलीफोन, रसोई गैस, आवागमन और कृत्रिम ऊर्जा के मामले में इससे ठीक विपरीत है। अतः मेरा आपसे निवेदन है कि अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं और सुविधा की वस्तुओं में अंतर करना शुरू करें। हम घोषणा करें कि अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं पर किसी भी स्थिति में कोई कर नहीं होगा। सारा कर विलासिता की वस्तुओं पर होगा और यदि आवश्यक ही हुआ तो सुविधा की वस्तुओं पर लगाया जा सकता है। आवश्यक वस्तुओं पर नहीं। अनिवार्य वस्तुएँ, सुविधा की वस्तुएँ और विलासिता की वस्तुओं का वर्गीकरण करके कर लगाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि सभी वस्तुओं की आवश्यकता के क्रम में एक सूची बनाकर नीचे से कर लगाना शुरू करें और ऊपर की वस्तुओं को करमुक्त कर दें। मुझे पूरा विश्वास है कि क्रम बनाने में रोटी, कपड़ा, मकान, दवा के बाद ही आवागमन का नंबर आएगा, ऊपर नहीं। आपने कृत्रिम ऊर्जा पर हमारे दृष्टिकोण का भरपूर समर्थन किया है। दूसरे दृष्टिकोण को भी समझेंगे ऐसी आशा है।

2) सूरज प्रसाद श्रीवास्तव (फेसबुक से) जुलाई 2017

प्रश्नः- आपने कल श्रमशोषक की पहचान के पाँच सूत्र लिखे थे। आप इन सूत्रों को कुछ विस्तार से बताने की कृपा करें।

उत्तरः- श्रमशोषण के पाँच सूत्र इस प्रकार हैं

1. भारत में स्वतंत्रता के बाद महंगाई निरंतर घटी है। सोना, चाँदी, जमीन कई गुना अधिक महंगे हुए हैं, तो रोटी, कपड़ा तथा अन्य सभी उपभोक्ता वस्तुएँ सस्ती या बहुत सस्ती हुईं। स्वतंत्रता के बाद भारत में रुपये का मूल्य 210 रुपये के बराबर है। इस आधार पर महंगाई का हल्ला उपभोक्ता अपने हित में करते हैं, उत्पादक की समस्याओं की चिंता नहीं करते। किसान आत्महत्या करते हैं तो उपभोक्ताओं का जीवन स्तर ऊपर से ऊपर जा रहा है।

2. कृत्रिम ऊर्जा श्रम की प्रतिस्पर्धी है और बुद्धिजीवी पूँजीपतियों की सहायक। भारत का 33 प्रतिशत सम्पन्न व्यक्ति अपने उत्पादन और उपभोग में 70 प्रतिशत कृत्रिम ऊर्जा तथा 5 प्रतिशत मानवीय ऊर्जा का उपभोग करता है, तो 33 प्रतिशत गरीब ग्रामीण श्रमजीवी सिर्फ 5 प्रतिशत कृत्रिम ऊर्जा तथा 95 प्रतिशत मानवीय ऊर्जा। यदि गरीब ग्रामीण श्रमजीवियों को सब प्रकार के टैक्सों से मुक्त करके सारा टैक्स कृत्रिम ऊर्जा पर लगा दिया जाए तो भारत की सब प्रकार की समस्याएँ अपने आप सुलझ जाएँगी। पर्यावरण प्रदूषण घटेगा। शहरी आबादी गाँव की ओर लौटेगी। विदेशी कर्ज कम होगा। आयात निर्यात का संतुलन बनेगा और श्रम का मूल्य अपने आप बढ़ जाएगा। सरकार के पास इतना अतिरिक्त धन हो जाएगा कि सरकार वह धन आम नागरिकों में बाँट भी सकती है।

3. श्रम की मांग-वृद्धि श्रम मूल्य-वृद्धि की पूरक है। श्रम की मांग बढ़ेगी तभी श्रम का मूल्य बढ़ेगा, किन्तु श्रम की मांग बढ़ाने की अपेक्षा हम तकनीक को सस्ता करके श्रमजीवियों को आर्थिक सहायता करना चाहते हैं क्योंकि बुद्धिजीवियों और पूँजीपतियों की मालिक गुलाम या दाता भिखारी की भावना बढ़ती जा रही है। मैं इसके विरुद्ध हूँ। गुलाम और मालिक या दाता और भिखारी की प्रवृत्ति बदलनी चाहिए और उसका समाधान है श्रम और कृत्रिम ऊर्जा के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़े।

4. आवागमन को महंगा होना चाहिए क्योंकि आवागमन सस्ता होने से लघु उद्योग समाप्त होकर बड़े उद्योग बढ़ रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि बड़े उद्योग विस्तार करें, किन्तु लघु उद्योगों को समाप्त करके नहीं बल्कि प्रतिस्पर्धात्मक तरीके से आगे बढ़ें।

5. एक सिद्धांत है कि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ता है तो मांग घटती है। इस षड्यंत्र के अंतर्गत ही लोग श्रम का मूल्य बढ़ाने की मांग करते हैं और सरकारें षड्यंत्र के अंतर्गत ही बढ़ाती भी हैं, जिसका परिणाम होता है कि समाज में दो प्रकार के श्रम मूल्य हो जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि सरकार न्यूनतम श्रममूल्य इतना ही घोषित करे जिस पर वह प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार देने के लिए बाध्य हो। इसका अर्थ यह हुआ कि बाजार के श्रम मूल्य से अधिक की घोषणा वापस ले लेनी चाहिए। एक तरफ श्रममूल्य की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा पैदा करना और दूसरी ओर कृत्रिम श्रममूल्य बढ़ाने का प्रयास बुद्धिजीवियों का षड्यंत्र मात्र है।

3) प्रश्न- आप बताइये कि एसएचआरएम शोषण का इतिहास क्या है और कब से शुरू हुआ ?

उत्तर - श्रम शोषण की नीतियां कब से बननी शुरू हुई इसका कोई स्पष्ट इतिहास नहीं है। लेकिन ऐसा लगता है कि पिछले 100 वर्षों से यह नीतियां धीरे-धीरे शुरू हुई होगी। बुद्धिजीवियों ने दुनिया में योजना बनाकर ऐसा शुरू किया अथवा ऐसा धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से हुआ इसका भी कोई प्रमाण नहीं है लेकिन यह बात प्रत्यक्ष है कि सारी दुनिया में श्रम शोषण की कोशिश बढ़ती गई। पश्चिमी जगत ने इस कार्य के लिए कृत्रिम उर्जा और पूंजीवाद का विकास किया तो भारतीय समाज व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था में आरक्षण को इसका आधार बनाया। स्वतंत्रता के बाद दुनिया के अनेक देश इस संबंध में या तो पूंजीवाद और कृत्रिम उर्जा के आधार को आधार बनाकर चल रहे हैं अथवा कुछ देश गुप्त राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था को आधार बना रहे हैं। भारत अकेला ऐसा देश है जो आरक्षण का भी सहारा ले रहा है, पूंजीवाद की दिशा में भी बढ़ रहा है और कृत्रिम उर्जा भी सस्ती रख रहा है। यही कारण है कि दुनिया के अनेक देशों की तुलना में भारत में बुद्धिजीवियों द्वारा श्रम शोषण के प्रयत्न लगातार बढ़ते जा रहे हैं।

नयी समाज व्यवस्था :

1. राज्य-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था भूमिका और वर्तमान स्थिति

हमारी समाज-व्यवस्था दो अलग-अलग चरणों में कार्य करती है। पहला है राज्य-व्यवस्था और दूसरा है समाज-व्यवस्था। राज्य-व्यवस्था के अंतर्गत पूरी सरकारी मशीनरी आती है, जिसमें संविधान, सरकार, सेना, पुलिस और न्यायालय शामिल हैं। समाज-व्यवस्था के अंतर्गत धर्म, परिवार, गाँव, सामाजिक संगठन आदि सभी इकाइयाँ आती हैं। वर्तमान भारत में राज्य-व्यवस्था बहुत सही दिशा में कार्य कर रही है। हमारा पहला बड़ा शत्रु नक्सलवाद था, जिसे राज्य-व्यवस्था ने सफलतापूर्वक लगभग समाप्त कर दिया है। हमारी दूसरी प्रमुख प्राथमिकता मुस्लिम विस्तारवाद रही है, और इस दिशा में भी सरकार निरंतर और प्रभावी रूप से आगे बढ़ रही है। इसके लिए हम अपनी राज्य-व्यवस्था को धन्यवाद देते हैं। लेकिन हमारी समाज-व्यवस्था अभी तक पूरी तरह सक्रिय नहीं हो पाई है। नक्सलवाद का वैचारिक जनक साम्यवाद है, किंतु समाज-व्यवस्था साम्यवाद को कमजोर करने की दिशा में अभी सक्रिय दिखाई नहीं देती। न तो हमारी धर्म-व्यवस्था इस विषय में पर्याप्त चिंता कर पा रही है और न ही समाज की अन्य इकाइयाँ। मुस्लिम कट्टरवाद को कमजोर करने के लिए धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था निरंतर सक्रिय रही हैं। इस दिशा में संघ परिवार, सावरकरवादी और आर्य समाज से जुड़े लोग अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय दिखाई देते हैं, जबकि अन्य वर्गों की भूमिका इस विषय में बहुत सीमित रही है। इसके विपरीत, साम्यवाद को वैचारिक धरातल पर कमजोर करने की दिशा में अभी तक कोई ठोस प्रयास नहीं हो रहा है। साम्यवाद और इस्लामी विस्तारवाद कई स्तरों पर आपस में जुड़े हुए हैं। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि जिस प्रकार समाज-व्यवस्था इस्लामी विस्तारवाद को लक्ष्य बनाकर सक्रिय है, उसी प्रकार साम्यवादी विचारधारा को भी वैचारिक स्तर पर लक्ष्य बनाए जाने की आवश्यकता है।

2. व्यक्ति और समाज जटिल संबंध और स्वतंत्र निर्णय की आवश्यकता

दुनिया में व्यक्ति और समाज के संबंध इतने जटिल और उलझे हुए हैं कि उन्हें पूरी तरह सुलझाकर समझाना अत्यंत कठिन कार्य है। फिर भी, इस कठिनाई के बावजूद हमें कोई न कोई सरल मार्ग अवश्य खोजना होगा। हम अनंत काल तक इस उलझन में फँसे नहीं रह सकते। प्राकृतिक रूप से यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वतंत्र रूप से निर्णय करने की एक क्षमता होती है। इसी निर्णय करने की क्षमता को हम समझदारी कहते हैं। वर्तमान समय में यह स्वतंत्र निर्णय क्षमता लगातार घटती जा रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि धर्म और राज्य, दोनों ही व्यक्ति की स्वतंत्र निर्णय-क्षमता में बाधक बनते जा रहे हैं। यह भी एक प्राकृतिक सत्य है कि कोई भी कार्य करने से पहले व्यक्ति को उस कार्य के विषय में स्वयं निर्णय लेना पड़ता है, और उसी निर्णय के अनुरूप वह कार्य करता है। यह निर्णय कार्य करने वाले व्यक्ति द्वारा ही लिया जाना आवश्यक है। किंतु दुर्भाग्यवश, यही निर्णय-क्षमता निरंतर कमजोर होती जा रही है। इसलिए वर्तमान समय में मेरा स्पष्ट सुझाव है कि व्यक्ति की समझदारी को बढ़ाया जाना चाहिए। और समझदारी बढ़ाने का एकमात्र उपाय यह है कि व्यक्ति की निर्णय-क्षमता में राज्य और धर्म का हस्तक्षेप कम किया जाए। राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न कर रहा हो। वहीं धर्म को अपनी सीमाओं में रहना चाहिए। धर्म का कार्य केवल मार्गदर्शन देना होना चाहिए, आदेश देना नहीं। मेरे विचार से वर्तमान में राज्य और धर्म, दोनों ही अपनी-अपनी सीमाओं से बाहर जाकर गलत दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। इसलिए मैं राज्य और धर्म दोनों से निवेदन करता हूँ कि वे अपने अनावश्यक कानूनों और हस्तक्षेपों को समाप्त करें तथा व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने की आज़ादी दें।

3. धर्म, राष्ट्र और समाज प्राथमिकताओं पर विचार

कल मैं रायपुर शहर से कुछ दूरी पर स्थित आनंद धाम अपने मित्र से मिलने गया था। आनंद धाम वह स्थान है जहाँ करपात्री जी ने एक बड़ा यज्ञ किया था। उसी यज्ञ की परंपरा के आधार पर प्रतिवर्ष पंद्रह दिनों का एक औपचारिक यज्ञ आयोजित किया जाता है। आनंद धाम एक उपेक्षित धार्मिक स्थल है, जबकि यह स्थान सुविधाओं की दृष्टि से अत्यंत अनुकूल है। मेरे मित्र ने आनंद धाम के विकास में सहयोग करने का आग्रह किया। मैं इस प्रस्ताव से प्रभावित भी हुआ, लेकिन मैंने स्वयं को रोक लिया। मैंने यह विचार किया कि क्या अपनी शक्ति और समय इस कार्य में लगाना उचित होगा। कार्य के तीन प्रमुख क्षेत्र होते हैं धर्म, राष्ट्र और समाज। तीनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। धर्म की चिंता शंकराचार्य कर रहे हैं, राष्ट्र की चिंता संघ कर रहा है, लेकिन समाज की चिंता करने वाले लोग बहुत कम दिखाई देते हैं। इसी संदर्भ में मैंने यह सोचा कि क्या मुझे भी अपना वर्तमान कार्य छोड़कर धर्म या राष्ट्र की चिंता में ही जुड़ जाना चाहिए। इसी विचार के कारण मैंने स्वयं को नियंत्रित करने का प्रयास किया। मैं इस बात से संतुष्ट नहीं हूँ कि धर्म और राष्ट्र की तुलना में समाज को उपेक्षित कर दिया जाए। परिवार-व्यवस्था, ग्राम-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था इन सभी को समान रूप से महत्वपूर्ण

मानना आवश्यक है। किंतु वास्तविकता यह है कि धर्म-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्था की तुलना में परिवार, गाँव और विश्व-व्यवस्था की लगातार उपेक्षा हो रही है। यह अवश्य संतोष का विषय है कि पिछले कुछ वर्षों से संघ परिवार राष्ट्र के साथ-साथ समाज पर भी ध्यान देने लगा है। इसी कारण मैं समाज के साथ-साथ धर्म और राष्ट्र-व्यवस्था पर भी विचार करता हूँ। फिर भी मैं यह स्पष्ट रूप से समझता हूँ कि धर्म और राष्ट्र की चिंता करने वाले अधिकांश लोग समाज को अत्यधिक उपेक्षित कर रहे हैं, जबकि मेरे विचार में समाज-व्यवस्था, धर्म और राष्ट्र दोनों से अधिक महत्वपूर्ण होनी चाहिए।

4. नई समाज-व्यवस्था दीर्घ अनुभव और निष्कर्ष

मैंने अपने सत्तर से अधिक सक्रिय वर्षों में देशभर के अपने साथियों तथा उपलब्ध सभी प्रकार के संसाधनों का उपयोग करते हुए निरंतर नई समाज-व्यवस्था पर चिंतन किया, प्रयोग किए और उनसे निष्कर्ष निकाले। आज मैं यह अनुभव करता हूँ कि नई समाज-व्यवस्था भविष्य की अनेक समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध होगी। नई समाज-व्यवस्था की रचना करते समय मैंने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि समाज-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था की तुलना में अधिक शक्तिशाली और निर्णायक हो। मेरा यह भी प्रयास रहा है कि पुरानी अच्छी मान्यताओं और नई उपयोगी मान्यताओं को समन्वित करके एक नई व्यवस्था बनाई जाए। क्योंकि यह सत्य है कि न तो सभी पुरानी मान्यताएँ गलत होती हैं और न ही सभी पुरानी मान्यताएँ पूरी तरह सही होती हैं। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों की समीक्षा करते हुए एक नई समाज-व्यवस्था का निर्माण आवश्यक है। हम सबने मिलकर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन पर प्रतिदिन रात को लगभग डेढ़ घंटे तक समाज के अनेक गंभीर विचारक चिंतन करते हैं। साथ ही हमारे कई साथी इस नई समाज-व्यवस्था को लेकर समाज में जन-जागृति लाने का भी निरंतर प्रयास कर रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आगामी कुछ वर्षों में नई समाज-व्यवस्था के प्रारूप पर देशभर में व्यापक बहस होगी और उसी बहस के माध्यम से कोई सकारात्मक और सार्थक परिणाम सामने आएगा।

5. परिवार को व्यवस्था की पहली इकाई बनाने का प्रस्ताव

कल मैंने एक लेख लिखा था, जिसमें यह सुझाव दिया गया कि व्यक्ति में स्वार्थ की भावना लगातार बढ़ रही है और इस स्वार्थ पर कुछ नियंत्रण आवश्यक है। इसी संदर्भ में मैंने यह विचार रखा था कि व्यक्तिगत संपत्ति और व्यक्तिगत परिवार की व्यवस्था के स्थान पर संयुक्त संपत्ति और संयुक्त परिवार की व्यवस्था को अपनाया जाना चाहिए। कल इस विषय पर अनेक लोगों ने चर्चा में भाग लिया। कई लोगों का प्रश्न था कि महिलाएँ कैसे संयुक्त होंगी और बच्चे कैसे संयुक्त माने जाएँगे। इस पर मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैंने यह नहीं कहा है कि महिलाएँ संयुक्त होंगी। मेरा आशय केवल यह था कि परिवार अपनी आंतरिक व्यवस्था आपसी सहमति से तय करे। उदाहरण के लिए, यदि किसी परिवार में चार भाई हैं और उनमें से केवल एक विवाहित है, तो उस परिवार से जुड़े निर्णय पूरे परिवार द्वारा बैठकर लिए जाने चाहिए। बाहरी व्यक्ति को इसमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होना चाहिए। यदि परिवार का कोई सदस्य पारिवारिक निर्णयों से सहमत नहीं है, तो उसे परिवार से अलग होने का अधिकार होना चाहिए। सरकार और समाज के कानूनों के अनुसार परिवार को संयुक्त माना जाए, बच्चे संयुक्त माने जाएँ, संपत्ति संयुक्त मानी जाए और यदि परिवार द्वारा कोई अपराध किया जाता है, तो उसकी जिम्मेदारी पूरे परिवार की मानी जाए। व्यवस्था की पहली इकाई व्यक्ति नहीं, बल्कि परिवार होना चाहिए। हालाँकि परिवार और विश्व-समाज की दृष्टि से व्यक्ति को पहली इकाई माना जा सकता है, लेकिन व्यवस्था की इकाई व्यक्ति नहीं होनी चाहिए। इसी कारण मेरा सुझाव है कि सरकारी अभिलेखों में परिवार को संयुक्त इकाई के रूप में मान्यता दी जाए और परिवार को ही पहली इकाई माना जाए। परिवार अपने आंतरिक निर्णय आपसी सहमति से स्वयं ले सके और उसमें सरकार का कोई हस्तक्षेप न हो। अब प्रश्न यह है कि इस व्यवस्था में वास्तविक कठिनाई क्या है?

6. नई समाज-व्यवस्था पर विचार-मंथन का प्रयास

कल रात 7-30 बजे से 9-00 बजे तक हम लोगों ने बैठकर नई समाज-व्यवस्था पर चर्चा की। इस चर्चा में इस बात पर खुला संवाद हुआ कि हम क्या कर रहे हैं और क्या सोच रहे हैं। हम कोई नई समाज-रचना नहीं कर रहे हैं। हम केवल विचार-मंथन के माध्यम से समाज के सामने नई समाज-व्यवस्था का एक प्रारूप प्रस्तुत कर रहे हैं। हमारा मानना है कि वर्तमान भारत में चिंतन और मंथन करने वाले लोगों की कमी होती जा रही है। विपरीत विचारों के लोग एक साथ बैठकर विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर रहे हैं, बल्कि अलग-अलग बैठकर अपने-अपने विचारों का प्रचार कर रहे हैं, जिससे समाज में भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो रही है। हम इस कमी को दूर करना चाहते हैं। हमारा प्रयास है कि विपरीत विचारों के लोग एक साथ बैठें और विचार-मंथन की परंपरा विकसित करें। इस दिशा में लगभग दो वर्षों तक निरंतर प्रयास करने के बाद हमें अच्छी सफलता भी मिली है। विचारशील लोगों की एक टीम तैयार हो रही है और सौभाग्य से वर्तमान सरकार इन विचारों पर चर्चा कर रही है तथा उन पर अमल भी कर रही है। यह एक सकारात्मक संकेत है कि वर्तमान सरकार विचारों को महत्व दे रही है, जबकि पिछली सरकार साम्यवादी प्रभाव के कारण विचारों को पर्याप्त महत्व नहीं देती थी। दूसरी

महत्वपूर्ण बात यह है कि हम कोई नया संगठन नहीं बना रहे हैं और न ही कोई नई समाज-रचना कर रहे हैं। हम विचारकों के रूप में वर्तमान समाज-व्यवस्था का मार्गदर्शन कर रहे हैं और निरंतर प्रयास कर रहे हैं कि सरकार विचारकों के मार्गदर्शन को गंभीरता से ले। इसी उद्देश्य से हमारी टीम फेसबुक, व्हाट्सएप, स्वतंत्र विचार-मंथन मंचों तथा अन्य संपर्क माध्यमों का उपयोग कर रही है। हमारा समूह लगातार मजबूत हो रहा है और इसकी संख्या भी बढ़ रही है। निकट भविष्य में हम अपने प्रयासों में सफल होंगे, ऐसी प्रबल संभावना दिखाई देती है।

7. वर्तमान लोकतंत्र की स्थिति और वैश्विक असंतुलन

वर्तमान समय में जो नई राज्य-व्यवस्था हमें दिखाई दे रही है, वह केवल भारत तक सीमित नहीं है; वास्तव में पूरी दुनिया की राजनीतिक व्यवस्था गड़बड़ हो गई है। लोकतंत्र का मूल अर्थ बदल दिया गया है। पश्चिम के जिस सड़े-गले लोकतंत्र को हम भारत में भी अपना रहे हैं, उसमें संविधान भी तंत्र का गुलाम बन गया है। इसके कारण समाज के वास्तविक अस्तित्व को समाप्त कर दिया गया है। इसलिए हमें पूरी दुनिया की लोकतंत्र व्यवस्था पर गंभीरता से विचार करना होगा और उसमें सुधार लाना होगा। यह सुधार भारत से ही संभव है क्योंकि भारत एक विचारप्रधान देश है, और दुनिया भारत के पीछे चल सकती है। इस सड़े-गले लोकतंत्र की जगह हम स्वराज प्रणाली का प्रयोग करें। इस प्रणाली में मूलभूत अंतर यह है कि इसमें तीन स्वतंत्र इकाइयाँ होती हैं संविधान सभा, तंत्र और राष्ट्रपति। ये तीनों मिलकर ही संविधान बना सकते हैं; कोई एक अकेले ऐसा नहीं कर सकता। इस तरह दुनिया का एक साझा संविधान बनाया जा सकता है, जिसमें एक राष्ट्रपति, एक संविधान सभा और एक तंत्र का आधार होगा। इस प्रणाली से तंत्र में जनता का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप संभव होगा। वर्तमान समय में संविधान निर्माण या संशोधन में जनता की कोई भूमिका नहीं है; यह कार्य केवल तंत्र द्वारा किया जा रहा है। इसलिए मेरा स्पष्ट सुझाव है कि हम इस सड़े-गले लोकतंत्र की जगह स्वराज प्रणाली पर गंभीरता से विचार करें।

8. वर्तमान वैश्विक घटनाएँ और उनका विश्लेषण

कल अमेरिका ने वेनेजुएला पर आक्रमण किया और वहां के राष्ट्रपति को गिरफ्तार कर लिया। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या यह सही था या गलत। मैं व्यक्तिगत रूप से हमेशा साम्यवाद के विरुद्ध और लोकतंत्र के पक्षधर रहा हूँ। वेनेजुएला के राष्ट्रपति साम्यवादी विचारधारा के थे और चुनाव को महत्व नहीं देते थे। हालांकि इस विषय पर पूरी तरह स्पष्ट राय बनाना कठिन है, क्योंकि वर्तमान समय में दुनिया ताकत और धन के आधार पर चल रही है। उदाहरण के लिए रूस ने यूक्रेन पर आक्रमण किया, दुनिया कुछ नहीं कर सकी; हमास ने इजराइल पर आक्रमण किया, दुनिया ने कुछ नहीं किया; अमेरिका ने वेनेजुएला पर आक्रमण किया, दुनिया कुछ नहीं कर पाएगी। यह प्रश्न केवल यह नहीं है कि क्या होना चाहिए था, बल्कि यह है कि क्या दुनिया केवल ताकत और धन के आधार पर ही चलेगी, या हम कोई नई, न्यायपूर्ण व्यवस्था पर विचार कर सकते हैं। मेरा मानना है कि वर्तमान दुनिया की व्यवस्था सही नहीं है और इसे बदलना आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ की जगह संयुक्त मानव संघ होना चाहिए। इसमें दुनिया भर के सभी लोग मिलकर एक नई व्यवस्था बनाएँ, जिसमें एक राष्ट्रपति, एक संविधान सभा और एक तंत्र हो। ये तीनों मिलकर दुनिया को न्याय और सुरक्षा की गारंटी दें। यदि हम प्रत्येक देश को एक इकाई मानते हैं, तो यह कैसे न्यायसंगत हो सकता है कि ढाई करोड़ की आबादी वाला वेनेजुएला और 140 करोड़ की आबादी वाला भारत दोनों को संयुक्त राष्ट्र में केवल एक-एक वोट मिले? यह उचित नहीं है। इसलिए नई व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक है। मेरा सुझाव है कि व्यक्ति को एक इकाई माना जाए और पूरे समाज की व्यवस्था इसी आधार पर बनाई जाए। प्रत्येक राष्ट्र की भूमिका उसकी आबादी के अनुसार निर्धारित हो, ताकि विश्व व्यवस्था न्यायसंगत और संतुलित बन सके।

9. भाषा और समाज में विभाजन

भारत में समाज को विभाजित करने के लिए धर्म, जाति, लिंग और उम्र का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है। पिछले कई दिनों से हम इसी विषय पर चर्चा कर रहे हैं। इसी क्रम में भाषा का भी प्रयोग होता है। नेहरू परिवार ने भाषावार प्रांत रचना करके समाज में विभाजन की नींव रखी थी। अब इस गलत नींव पर खड़ा मकान पूरे देश में भाषाई टकराव के रूप में लगातार बढ़ रहा है। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसे जाति, धर्म या किसी अन्य संस्कृति के साथ जोड़ना उचित नहीं है। भाषा का निर्धारण वक्ता नहीं करता, बल्कि श्रोताओं को देखकर वक्ता अपनी भाषा तय करता है। स्पष्ट है कि भाषा का चयन श्रोता के आधार पर होता है, वक्ता के आधार पर नहीं। हमें भाषा के नाम पर होने वाले किसी भी प्रकार के टकराव या प्रचार से दूरी बनानी चाहिए। भाषा एक-दूसरे को जोड़ने का माध्यम होनी चाहिए, तोड़ने का नहीं।

भारत में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि

- राष्ट्रीय सरकार अपनी एक भाषा तय कर सके,
- प्रत्येक प्रदेश अपनी भाषा तय कर सके,
- परिवार और गांव अपनी-अपनी भाषा तय कर सकें,
- और कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा में स्वतंत्र रूप से बात कर सके।

किसी व्यक्ति को किसी भाषा के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मेरा यह मत है कि भाषा हर इकाई की स्वतंत्रता की प्राथमिक इकाई होनी चाहिए।

10. नई समाज-व्यवस्था और वैश्विक दृष्टि

संक्रांति के अवसर पर हम नई समाज-व्यवस्था पर विचार-विमर्श कर रहे हैं। यह समाज-व्यवस्था पूरी दुनिया के लिए सोची जा रही है; यह किसी धर्म, जाति या राष्ट्र तक सीमित नहीं है। इस व्यवस्था के अंतर्गत केवल बल प्रयोग और धोखाधड़ी को ही अपराध माना जाएगा। अन्य कोई कार्य अपराध नहीं होंगे। इसका अर्थ स्पष्ट है कि

- यदि कोई व्यक्ति आपसी सहमति से अपना शरीर या उसका कोई अंग बेचना चाहता है,
- यदि कोई व्यक्ति लोभ या लालच से अपना धर्म परिवर्तन करता है,
- यदि कोई व्यक्ति लोभ या लालच से सेक्स का आदान-प्रदान करता है,
- यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपनी किडनी बेचता है,

तो इन मामलों में किसी कानून द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा।

यह स्पष्ट है कि खरीद-बिक्री और लेन-देन व्यक्तियों की आपसी स्वतंत्रता पर आधारित होगी, बशर्ते उसमें कोई बल प्रयोग या धोखाधड़ी न हो। सभी लेन-देन के बाद भी व्यक्ति की स्वतंत्रता कायम रहेगी; उसकी सहमति लगातार आवश्यक होगी। व्यक्ति किसी भी समय अपनी सहमति वापस लेने के लिए स्वतंत्र होगा। जब बल प्रयोग या धोखाधड़ी होगी, तभी किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता में कानून द्वारा बाधा डाली जा सकती है। वर्तमान भारत में इस संबंध में बने सभी कानूनों को हटाने की आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करना चाहता है, तो उसे किसी कानून द्वारा रोका नहीं जाना चाहिए।

11. प्रातःकालीन लेखन और नई समाज-व्यवस्था की कल्पना

मैं प्रतिदिन तीन-चार पोस्ट लिखता हूँ, जिनमें प्रातःकाल में मैं नई समाज-व्यवस्था पर अपनी कल्पना प्रस्तुत करता हूँ। मुझे पता है कि प्रातःकाल में जो मैं लिखता हूँ, वह आप सबकी दृष्टि में यूटोपिया लग सकता है, लेकिन मैं आत्म-संतोष और जन-जागरूकता के लिए अपनी बात प्रतिदिन लिखता हूँ। मैं यह भी समझता हूँ कि वर्तमान समय में सबसे बड़ी समस्याएँ साम्यवादी विचारधारा और इस्लामी संगठनवाद हैं, और इन दोनों की मदद वर्तमान में नेहरू परिवार कर रहा है। इसलिए मैं दिन में दो-तीन बार साम्यवाद, इस्लाम और विपक्षी दलों पर भी कुछ न कुछ लिखता हूँ। लोग जानना चाहते हैं कि क्या मेरे दिमाग में कोई नई सामाजिक संरचना है। मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैं कोई नया समाज नहीं बना रहा हूँ। मैं केवल वर्तमान समाज-व्यवस्था में सुधार के प्रस्ताव पेश कर रहा हूँ, ताकि नई समाज-व्यवस्था अपने आप उत्पन्न हो सके। नए समाज को "बनाने" से नहीं, बल्कि व्यवस्था में बदलाव से नया समाज आकार ले सकता है। हमारे प्रयास दो दिशाओं में हैं-

1. सवेरे लिखी जाने वाली दिशा समाज में ऐसा जन-जागरण किया जाए, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक बुराइयाँ समाप्त हो जाएँ और नई समाज-व्यवस्था अपने आप बनना शुरू हो जाए।

2. निषेधात्मक दिशा नई समाज-व्यवस्था के निर्माण में बाधक साम्यवाद, मुस्लिम संगठनवाद और भारत के विपक्षी दलों पर लगातार आक्रमण किया जाए।

इन दोनों दिशाओं से जब जन-जागरण होगा, तब समाज की बुराइयाँ दूर होंगी और इन बुराइयों से लाभ उठाने वाले लोग भी नियंत्रण में आएँगे। इस प्रकार नई समाज-व्यवस्था अपने आप बन जाएगी। हमें कुछ नया "बनाने" की आवश्यकता नहीं है। समाज अपनी बुराइयों को दूर करने से बनता है, नए संस्थान बनाने से नहीं।

12. समाज में विभाजन और वैश्विक योजनाओं का प्रभाव

हम पिछले कई दिनों से समाज को टुकड़ों में बाँटने वाली वैश्विक योजनाओं पर चर्चा कर रहे हैं। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता, आयु और लिंग जैसे विषयों पर विचार पहले ही किया जा चुका है। लेकिन समाज को विभाजित करने में सबसे बड़ी भूमिका साम्यवादियों की रही है। साम्यवादियों ने गरीब और अमीर के बीच टकराव को सबसे प्रभावी तरीके से समाज में फैलाया है। गरीब और अमीर की यह भावना इतनी गहराई से समाज में घर कर गई है कि लगभग हर व्यक्ति इससे प्रभावित है, जबकि वास्तविकता यह है कि न तो सभी गरीब अच्छे होते हैं और न ही सभी अमीर बुरे। उदाहरण के लिए, दो दिन पहले ही प्रसिद्ध उद्योगपति अनिल अग्रवाल ने अपनी बहुत बड़ी संपत्ति समाज के लिए दान करने की घोषणा की है। इससे पहले भी कई बड़े उद्योगपतियों ने अपनी संपत्ति समाज के कल्याण के लिए दान की है। फिर भी साम्यवादियों के प्रचार के प्रभाव में गरीबों के मन में अमीरों के प्रति नफरत का भाव उत्पन्न किया जाता है, जबकि सच यह है कि गरीब और अमीर एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के सहायक हैं। महात्मा गांधी ने भी 'मजदूर महाजन' का समन्वय स्थापित करने का नारा दिया था। इसलिए अब समय आ गया है कि हम गरीब और अमीर के नाम पर समाज को विभाजित करने वाली योजनाओं को असफल करें और सामाजिक एकता को मजबूत बनाने की दिशा में कार्य करें।

मुसलमानों की आबादी और अपराध में अनुपात

भारत में मुसलमानों की आबादी लगभग 16% के आसपास है, लेकिन अगर पूरे देश में सर्वे किया जाए तो अतिक्रमण करने वालों में मुसलमानों की संख्या लगभग 50% मिलेगी। आतंकवादियों में मुसलमानों की संख्या 95% होगी। सार्वजनिक व्यवहार में भी बल प्रयोग करने वालों की संख्या लगभग 40% मुसलमानों की होगी। अन्य प्रकार के अपराधों में भी मुसलमानों की भागीदारी अधिक दिखाई देगी। दूसरे धर्म की महिलाओं को किसी भी रूप में आकर्षित करके उनके साथ शारीरिक संबंध बनाने वालों की संख्या भी 70% से कम मुसलमानों की नहीं होगी। यह गंभीर प्रश्न उठता है कि दुनिया भर में मुसलमान ही इस प्रकार के समाज विरोधी कार्य क्यों करते हैं। यह चिंतनीय है कि भारत में मुसलमानों की आबादी कम होते हुए भी अपराधों में उनका प्रतिशत इतना अधिक क्यों है। इसके साथ-साथ बेशर्मी में भी मुसलमानों की संख्या लगभग 90% दिखाई देती है। आज भी मुसलमान यह तर्क देते हैं कि बुलडोजर से मस्जिद ही क्यों गिराई जा रही है, मुसलमान ही जेल में अधिक क्यों हैं, मुसलमान पर ही समाज अविश्वास क्यों कर रहा है, थूक कर खाना खिलाने में केवल मुसलमान ही क्यों पकड़े जा रहे हैं। विचित्र तर्क है कि अतिक्रमण करेगा मुसलमान तो पकड़ा जाएगा, हिंदू नहीं। यह तर्क, जैसा कि दिग्विजय सिंह दे सकते हैं, हमारे लिए नहीं। इसलिए मेरा आपसे निवेदन है कि बेशर्मी छोड़ें और गंभीरता से विचार करें कि इस प्रकार के अपराधों में मुसलमानों की संख्या इतनी अधिक क्यों है। प्रश्न पूछने की बजाय उत्तर खोजिए।

भारत में मुसलमानों की बढ़ती संख्या और अपराध का कारण

आज मैंने एक पोस्ट लिखी थी जिसमें यह प्रश्न उठाया गया कि हर प्रकार के अपराधों में मुसलमानों की संख्या औसत से कई गुना अधिक क्यों है। यदि इसका उत्तर खोजा जाए तो इसका प्रमुख कारण है भारत में इस्लाम समर्थित सरकार। स्वतंत्रता के बाद, नेहरू और नेहरू परिवार के नेतृत्व में चलने वाली सरकार अप्रत्यक्ष रूप से मुसलमान समर्थक रही। उस दौरान बनाए गए कई कानून मुसलमानों के पक्ष में थे। उनकी आबादी बढ़ाई जा रही थी, और साम्यवादियों के साथ मुसलमानों का समझौता था। इस तरह भारत की सरकार साम्यवाद और इस्लाम के गठजोड़ के तहत चल रही थी, और नाम मात्र नेहरू और उनके परिवार का था। यही कारण है कि हर मामले में मुसलमानों का मनोबल बढ़ा, बेशर्मी बढ़ी, अपराधों की संख्या बढ़ी और जनसंख्या भी बढ़ी। मुसलमानों ने साम्यवाद और नेहरू परिवार को अजर अमर मान लिया। लेकिन भारत में संघ परिवार के नेतृत्व में हिंदू एकजुट हुए। यह एकजुटता उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं थी, बल्कि मजबूरी थी। यह मजबूरी नेहरू परिवार, साम्यवाद और इस्लामी गठजोड़ के अत्याचार के कारण उत्पन्न हुई। अब संघ को गाली देने से नेहरू परिवार की ताकत बढ़ने वाली नहीं है। नेहरू परिवार को अपनी नीतियां बदलनी होंगी। हिंदुओं को जो घाव आपने दिए हैं, उन पर मरहम लगाना आपकी मजबूरी बन गई है। अन्यथा हिंदुओं ने अपनी एकजुटता का अनुभव कर लिया है और यह आपके लिए खतरा बन सकता है।

मुस्लिम व्यक्तियों के असामाजिक व्यवहार पर चर्चा

आज हम मुस्लिम व्यक्तियों के व्यवहार पर चर्चा कर रहे हैं। समाचार मिला कि गाजियाबाद के एक ढाबे में, मुरादनगर का रहने वाला एक मुस्लिम रसोइया, जावेद अंसारी, होटल वसीम भाई में काम करता था। बताया गया कि उसने रोटी बनाने के दौरान अस्वच्छ व्यवहार किया। यह घटना कल सामने आई और आरोपी को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। ऐसे समाचार पिछले तीन-चार वर्षों में कई बार सामने आए हैं। हम लोग कभी-कभी इस पर चर्चा भी करते रहे हैं। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि यह व्यक्ति ऐसा करता है, बल्कि यह है कि वह ऐसा क्यों करता है। इसका किसी धार्मिक उद्देश्य से संबंध स्पष्ट नहीं है, न ही इसे किसी संख्या विस्तार या धार्मिक रीति-रिवाज से जोड़कर समझा जा सकता है। ऐसे कई मुस्लिम जेल जा चुके हैं, फिर भी कुछ लोग बार-बार ऐसी हिम्मत क्यों कर रहे हैं। यह पूछना जरूरी है कि क्या इसके पीछे कोई वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक कारण है, या किसी प्रकार की गलत शिक्षा या भ्रांतियां इसे धार्मिक आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसके अलावा, यह भी ध्यान देने योग्य है कि भारत के अन्य मुस्लिम समुदाय इस प्रकार की घटनाओं की खुलकर निंदा क्यों नहीं करते। क्या कोई धर्मग्रंथ ऐसा आदेश देता है, या कोई गुप्त मार्गदर्शन इसे प्रोत्साहित करता है? इस मामले में गंभीर अनुसंधान और खोज की आवश्यकता है ताकि स्पष्ट हो सके कि इस तरह का व्यवहार क्यों हो रहा है। हालांकि, भारत में गैर-मुस्लिम नागरिक इनसे अधिक सावधान रहने लगे हैं, और यह सावधानी सुरक्षा प्रदान कर सकती है। लेकिन इस सुरक्षा के कारण यह पता नहीं चल पा रहा कि लोग ऐसा क्यों करते हैं। इसलिए आवश्यक है कि इस अस्वच्छ प्रवृत्ति पर खुलकर और गंभीरता से चर्चा की जाए।

महिला पुरुष संबंधों और समाज का दृष्टिकोण

मैं कल महिला पुरुष संबंधों पर एक लेख लिखा था, जिसमें मैंने महिला सशक्तिकरण के नारे का विरोध किया

था। मेरा मानना था कि सरकार को महिला और पुरुष के आपसी सहमत संबंधों में शून्य हस्तक्षेप करना चाहिए, समाज को भी न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए, और सारी स्वतंत्रता परिवार को दे दी जानी चाहिए। हालांकि, मेरे कुछ मित्रों ने इसमें व्यभिचार बढ़ने की संभावना देखी। मैं स्पष्ट रूप से मानता हूँ कि व्यभिचार को बलपूर्वक रोका जाए तो बलात्कार और हिंसा जैसी घटनाएँ बढ़ सकती हैं। व्यभिचार और बलात्कार में अंतर समझना जरूरी है। पुराने जमाने में भी यह बात घर-घर में प्रचलित थी कि देवर भाभी के आपसी संबंध स्थिति अनुसार मां के सामान भी होते हैं और पत्नी के समान भी। यह स्थिति परिवार तय कर सकता था। लेकिन जब से हम अत्यधिक उच्च आदर्शों को लागू करने लगे और देवर भाभी के संबंधों को मां बेटे जैसे सख्त नियमों में बांध दिया, तब से अव्यवस्था फैली है। पुराने समय में वैश्यालयों को भी अपनी स्वतंत्रता थी, लेकिन अत्यधिक उच्च आदर्शों के कारण उस पर भी रोक लगा दी गई। मैं अपने मित्रों की सलाह से सहमत नहीं हूं कि व्यभिचार को कानून से रोका जाए। इसलिए मेरा सुझाव है कि महिला और पुरुष के आपसी संबंधों में अविश्वास होना दोनों के लिए घातक है। सहमत महिला पुरुष संबंधों को समाज को नजरअंदाज करना चाहिए, परिवार उसे अनुशासित कर सकता है, और राज्य को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

महिला और युवा सशक्तिकरण के नारे पर विचार

मैंने महिला सशक्तिकरण और युवा सशक्तिकरण के नारे को एक बड़ी समस्या बताया था। मेरे विचार से समाज में केवल दो वर्ग होने चाहिए एक अच्छे लोगों का और एक बुरे लोगों का। इसके अतिरिक्त कोई अन्य वर्ग विभाजन ठीक नहीं है। मेरा यह मानना है कि क्षेत्रीयता भी एक बहुत बड़ी समस्या बन गई है। पूरे देश को प्रांतों में बांटकर लोग आपस में टकरा रहे हैं। क्षेत्रवाद की भावना मजबूत हो रही है, और इसके कारण बंगाली, मराठी, दक्षिण भारतीय, उत्तर भारतीय जैसे शब्द आम प्रचलन में आ गए हैं। क्षेत्रवाद को समाप्त करना ही चाहिए, और यह कार्य इतना कठिन भी नहीं है। मेरा सुझाव है कि हम पूरे देश को 100 भागों में बांट दें, और औसत आबादी एक प्रदेश में डेढ़ करोड़ के आसपास हो। इस योजना के अनुसार उत्तर प्रदेश के 16 भाग बनेंगे, उत्तराखंड का एक भाग रहेगा, और छत्तीसगढ़ के दो भाग होंगे। इससे क्षेत्रीयता लगभग समाप्त हो जाएगी। मैंने “औसत” शब्द इसलिए कहा है ताकि यह स्पष्ट हो कि किसी प्रदेश की आबादी एक करोड़ भी हो सकती है और किसी की दो करोड़ भी, लेकिन कुल मिलाकर देश को केवल 100 भागों में ही बांटा जाएगा।

दिल्ली में पर्यावरण संकट और वास्तविक कारण

दिल्ली में पर्यावरण की स्थिति गंभीर हो गई है। हवा बहुत खराब हो गई है, सांस लेना मुश्किल हो गया है और लोग बीमार पड़ रहे हैं। मेरा अनुभव कहता है कि यह सब सिर्फ दिखावा है। मैंने 70 साल पहले ही लिखा था कि यदि नीतियों में सुधार नहीं किया गया तो भविष्य में यही परिणाम होंगे जो आज दिखाई दे रहे हैं। जब आबादी शहरों में बढ़ती है और सुविधाएँ बढ़ती हैं, तो पर्यावरण का प्रदूषण होना स्वाभाविक है। आप बार-बार यह नाटक कर रहे हैं कि पंजाब में पराली जलने के कारण धुआँ दिल्ली पहुँच रहा है। कई सालों तक यही दावा किया गया। लेकिन हमने साफ देखा कि कोरोना काल में भी पंजाब में पराली जल रही थी, पर दिल्ली की हवा साफ थी। यदि आप वास्तव में इस समस्या का समाधान चाहते हैं, तो मैंने 70 साल पहले जो सुझाव दिया था, उसे अपनाएँ। इसे लागू करने से समस्या अपने आप हल हो जाएगी। यदि पूरा समाधान करना मुश्किल लगे, तो कम से कम 25% लागू करके देखें, आपको तुरंत बदलाव दिखाई देगा। पूरा देश शामिल नहीं करना चाहते तो सिर्फ दिल्ली में प्रयोग करें। मेरा सुझाव है कि आप पूरा जीएसटी हटा दें और जो धन इससे प्राप्त होता है, उसे डीजल, पेट्रोल, बिजली और अन्य कृत्रिम ऊर्जा संसाधनों पर खर्च करें। बाकी आपको कुछ नहीं करना है। इससे दिल्ली की आबादी थोड़ी घट जाएगी और विकास दर कम होगी, लेकिन पर्यावरण सुधार होगा। जो लोग समाधान नहीं करना चाहते, वे इसे समस्या समझकर केवल नाटक करेंगे। कोई पूंजीपति या बुद्धिजीवी मेरे सुझाव को नहीं मानेगा, क्योंकि अगर ऐसा होगा तो श्रम का मूल्य बढ़ेगा, मजदूर महंगे होंगे और आपकी सुविधा कम होगी। इसलिए अगर आप अपनी सुविधा और मनोरंजन बनाए रखना चाहते हैं, तो पर्यावरण की नाटकबाजी बंद करें और वास्तविक समाधान को अपनाएँ।

कनक तिवारी का आपत्तिजनक लेख और व्यक्तिगत आरोप

कनक तिवारी छत्तीसगढ़ के एक प्रतिष्ठित वकील हैं और वे प्रायः संविधान पर भी लिखते हैं। कांग्रेस पार्टी ने उन्हें पहले कई महत्वपूर्ण पद भी दिए थे। लेकिन आज उन्होंने नरेंद्र मोदी के विषय में एक बहुत ही आपत्तिजनक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने उनके व्यक्तिगत जीवन पर कई आरोप लगाए उनके विवाह, पत्नी और अन्य निजी मामलों को लेकर। मेरे विचार से यह स्तरहीन सवाल थे, क्योंकि कनक तिवारी जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए इस प्रकार नीचे उतरना उचित नहीं था। इसी तरह, दो दिन पहले दिल्ली की रैली में जिस तरह के नारे लगाए गए, उन्हें देखकर भी ऐसा लगता है कि कांग्रेस पार्टी में कहीं न कहीं निराशा व्याप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि कांग्रेस अब तर्क या मतदान के माध्यम से नरेंद्र मोदी को कमजोर करने में अपने को असमर्थ मान रही है। यही कारण है कि कभी “मोदी तेरी

कब्र खुदेगी" जैसे नारे लगाए जाते हैं और कभी नरेंद्र मोदी पर पारिवारिक या व्यक्तिगत आरोप लगाए जाते हैं। आम तौर पर, जब कोई व्यक्ति निराश हो जाता है, तो वह निराशा में या तो किसी बाहरी शक्ति विदेशियों या ईश्वर की मदद मांगता है या व्यक्तिगत आरोप लगाने लगता है। यदि यह निराशा में किया गया कार्य है, तो मैं इस संबंध में कुछ नहीं कहूंगा। अन्यथा, कांग्रेस पार्टी को अपनी गरिमा और नैतिक दायित्वों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

छत्तीसगढ़ में सरकारी गोदामों में चावल की बर्बादी

समाचार मिले हैं कि छत्तीसगढ़ में एक सरकारी गोदाम में कई करोड़ रुपए का चावल खराब हो गया है। यह चावल अब उपयोग योग्य नहीं है और इसे बर्बाद किया जाएगा। इसके अलावा, सरकार जो धान खरीद रही है, उसके रखने के लिए पर्याप्त जगह नहीं है। धान को खुले में रखा जा रहा है, जिससे बड़ी मात्रा में धान बर्बाद हो रहा है। खबर यह भी है कि बिहार और उत्तर प्रदेश से कुछ किसान छत्तीसगढ़ में धान बेचना चाहते थे, लेकिन उन्हें रोक लिया गया। बड़ी संख्या में सरकार के अधिकारी और पुलिस दिन-रात चौकसी कर रहे हैं कि बाहर का धान छत्तीसगढ़ में ना आ सके। इसी प्रकार, छत्तीसगढ़ के किसान अपना गन्ना बाहर बेचना चाहते हैं, लेकिन सरकारी कर्मचारी उन्हें रोक रहे हैं। गुड़ बनाने वाले किसानों को भी गन्ना खरीदने से रोका जा रहा है। कारण यह है कि छत्तीसगढ़ में धान का बाजार मूल्य लगभग ₹24 है, जबकि सरकार ₹31 में खरीद करती है। इसलिए बाहर का धान छत्तीसगढ़ में आने की कोशिश करता है। वहीं, गन्ना सरकार कम कीमत पर खरीदती है, इसलिए किसान उसे बाहर बेचने की कोशिश करते हैं। मैं अब तक नहीं समझ पाया कि सरकार को यह सब करने की क्या आवश्यकता है। क्यों ना शक्कर कारखाने और धान खरीदी को बाजार पर छोड़ दिया जाए? किसान मेहनत करके धान पैदा करेगा, सरकार उसे महंगा खरीदेगी और फिर बर्बाद कर देगी। इस प्रक्रिया के कारण हमारे ऊपर नए टैक्स भी लगाए जा सकते हैं।

मेरी सरकार से तत्काल अपील है कि वह

1. **धान का खरीदी मूल्य थोड़ा कम करे।**
2. **गन्ने का खरीदी मूल्य बढ़ाए।**

इससे शायद आंशिक रूप से समस्या का समाधान हो सकता है और अनाज तथा पैसे की बर्बादी रोकी जा सके।

राज्य, राष्ट्र और समाज परिभाषा और वर्तमान स्थिति

कल रात 7-30 बजे से 9-30 बजे तक देशभर के कई प्रमुख लोगों ने एकत्र होकर यह गंभीर विचार मंथन किया कि वर्तमान दुनिया में राज्य, राष्ट्र और समाज की क्या परिभाषाएं प्रचलित हैं। इस विषय पर सभी ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए, लेकिन कहीं कोई सर्वसम्मति नहीं बन सकी। मेरा व्यक्तिगत विचार यह है कि वर्तमान समय में राज्य, राष्ट्र और समाज की स्पष्ट और अलग-अलग परिभाषाएं या तो नहीं हैं, या यदि हैं, तो वे गलत हैं। मेरी सोच के अनुसार, राज्य और राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं को एक मान लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, भारत एक राष्ट्र है और भारत एक राज्य भी है। साथ ही, तीनों की दायित्व और कर्तव्य अलग-अलग निर्धारित होने चाहिए

1. राज्य का दायित्व केवल यह होना चाहिए कि वह व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी दे। इसके अतिरिक्त राज्य की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए।

2. राष्ट्र का कार्य यह होना चाहिए कि वह प्रत्येक नागरिक के संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी दे। राष्ट्र रूपी इकाई का इससे अधिक कोई कार्य नहीं होना चाहिए।

3. समाज का दायित्व यह सुनिश्चित करना है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति और नागरिक के सामाजिक अधिकार सुरक्षित रहें।

इस प्रकार, राज्य, राष्ट्र और समाज के अधिकार अलग-अलग स्तर पर सुरक्षित रहेंगे और इनकी अलग-अलग संरचना बनाई जा सकती है। वर्तमान समय में ये तीनों एकाकार हो गए हैं। राज्य ने स्वयं को राष्ट्र और समाज दोनों कह दिया है, जो उचित नहीं है। मैंने आज सुबह राज्य, राष्ट्र और समाज की नई परिभाषाओं, दायित्वों और कर्तव्यों पर चर्चा की। इस संदर्भ में मेरा यह सुझाव था कि राज्य को ही तंत्र कहा जाए। वर्तमान समय में जिस तरह बालिग मताधिकार के माध्यम से हम लोकसभा बनाते हैं, उसी प्रकार तंत्र का ढांचा बनाया जा सकता है। न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका जैसी संस्थाएं बनी रहेंगी, लेकिन उनका कार्य केवल न्याय और सुरक्षा तक सीमित रहेगा। राष्ट्र व्यवस्था का निर्माण इस आधार पर किया जा सकता है कि व्यक्ति परिवार बनाएंगे, परिवार ग्राम सभा बनाएंगे, ग्राम सभाएं जिला सभाएं, जिला सभाएं प्रदेश सभाएं, और प्रदेश सभाएं मिलकर राष्ट्र सभा बनाएंगी। राष्ट्र सभा और राज्य दोनों संविधान के माध्यम से संचालित होंगे, जिसका निर्माण जनमत संग्रह से होगा। समाज की एक अलग व्यवस्था होगी परिवार एक समाज, गांव एक समाज, जिला एक समाज, प्रदेश एक समाज, राष्ट्र भी एक समाज। समाज जितने कार्य संविधान के माध्यम से राष्ट्र को सौंपेगा, राष्ट्र उसी सीमा तक उनका निर्वहन करेगा। कल की दो पोस्ट में मैंने राज्य, राष्ट्र और समाज को अलग-अलग दायित्व और कर्तव्य सौंपने की बात की थी। लेकिन रात के सत्र में यह निष्कर्ष निकला कि मेरी सोच पूरी तरह सही नहीं थी। राष्ट्र नाम की कोई अलग व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि राष्ट्र, राज्य और देश लगभग समान अर्थ रखते हैं। राष्ट्र समाज का एक हिस्सा है और राज्य उसका प्रबंधक है। फिर भी यह

स्वीकार किया गया कि तीन प्रकार के अधिकार अलग-अलग होने चाहिए
1. मौलिक अधिकार की सुरक्षा की गारंटी राज्य की जिम्मेदारी हो।
2. संवैधानिक अधिकार की सुरक्षा की गारंटी एक अलग इकाई के पास हो, जिसे कोई अलग नाम दिया जा सकता है।
3. सामाजिक अधिकार की सुरक्षा की गारंटी समाज के पास हो।

इसलिए राष्ट्र शब्द को अलग से परिभाषित करना न तो उचित है, न ही संभव। इसके बजाय, जनकल्याण के सभी प्रकार के कार्यों के लिए एक अलग इकाई बनाई जा सकती है, जिसका नाम संघ सरकार या कोई अन्य उपयुक्त नाम रखा जा सकता है। इस प्रकार, राष्ट्र शब्द को अलग करने की बजाय कोई नया नाम रखने पर सभी ने सहमति व्यक्त की। इस विषय पर आगे की चर्चा फरवरी में रामानुजगंज में आयोजित होने वाले सम्मेलन में होगी।

ज़ूम चर्चा कार्यक्रम का सारांश

विषय- गंगा, गाय और मंदिर

सनातन परंपरा में गाय, गंगा और मंदिर का महत्वपूर्ण स्थान है। इन तीनों में हिंदुओं की प्रबल आस्था रही है। गाय और गंगा को हिंदू धर्म में मां का दर्जा प्राप्त है। मंदिर आदिकाल से आस्था के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का केंद्र रहे हैं। आज के समय में इन तीनों का भावनात्मक रूप से दोहन किया जा रहा है। राजनीतिक दल और विभिन्न संगठनों के द्वारा भावनाएं भड़काने का जरिया मान लिया गया है। यह हो सकता है कि इससे हमें अल्पकाल के लिए कुछ लाभ मिल जाए लेकिन दूरगामी दृष्टि से यह सही नहीं है। आज आवश्यकता है हिंदू धर्म को वैचारिक रूप से मजबूत होने की। अगर हम वैचारिक रूप से मजबूत होते हैं तो अपने धर्म का प्रचार और प्रसार कर सकते हैं। इसके अलावा एक बात और ध्यान देने वाली है कि गंगा और गाय को मां मानना किसी का व्यक्तिगत मामला है। हम दूसरे व्यक्ति को मा मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। अगर हम मंदिर की बात करें तो हम पाते हैं कि भावना प्रधान लोगों के लिए यह आस्था का केंद्र है जबकि विचार प्रधान लोगों के लिए चिंतन का। आज आवश्यकता है हमें वैचारिक रूप से धर्म को मजबूत करने की। इसी के दम पर हम अपना और हिंदुत्व का भला कर सकते हैं।

विषय- राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा

जब हम राज्य और समाज की भूमिका की बात करते हैं तो हम पाते हैं कि सुरक्षा राज्य और समाज का दायित्व है। सुरक्षा दो प्रकार की हो सकती है- सामाजिक और राष्ट्रीय। सामाजिक सुरक्षा के अंतर्गत राज्य या सरकार प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी देता है। इसके अंतर्गत सामाजिक समस्याएं आती हैं जिनका निराकरण करना राज्य का दायित्व है। राष्ट्रीय सुरक्षा राज्य का विषय है जिसे हर हाल में करना चाहिए। राष्ट्रीय सुरक्षा दो तरह की होती है- आंतरिक और बाहरी। बाहरी राष्ट्रीय सुरक्षा से तात्पर्य बाहरी आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करना है। आंतरिक सुरक्षा के अंतर्गत देश के अंदरुनी हालात को सुरक्षित करना है। अगर मौलिक अधिकारों को छोड़ दें तो बाकी सामाजिक अधिकार की रक्षा करना समाज की जिम्मेदारी है। सामाजिक अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है दायित्व नहीं। राष्ट्र और समाज के बीच संतुलन होना अनिवार्य है। वर्तमान दौर में राष्ट्र को अधिक महत्व दिया जा रहा है जिसके कारण समाज की उपेक्षा हो रही है। राष्ट्रवाद के नाम पर जनता की भावनाओं को उभारना और अपने हित में इस्तेमाल करना बहुत आसान है। राष्ट्र और समाज के बीच में संतुलन लगातार बिगड़ रहा है जो कि चिंता का विषय है। वर्तमान समय में राष्ट्र को ही सरकार और सरकार को ही समाज मान लेने की भूल हो रही है। आज आवश्यकता है समाज को स्वतंत्र और नियंत्रण मुक्त करने की। चर्चा के दौरान राज्य, राष्ट्र और समाज की परिभाषा पर व्यापक चर्चा हुई। बहस इस बात पर हुई कि आधुनिक समय में इन तीनों को कैसे परिभाषित किया जाए। चर्चा की समाप्ति तक इस पर आम राय नहीं बन सकी। चर्चा के दौरान बृजेश राय, मोहन गुप्ता, नीता आर्य, विपुल आदर्श आदि ने अपनी बात रखी। चर्चा सार्थक एवं उद्देश्य पूर्ण रही।

साथियों की कलम से

यू जी सी इक्विटी नियम समावेशिता के नाम पर गलत दिशा की ओर जाती नीति?

-ज्ञानेन्द्र आर्य

किसी भी शासन व्यवस्था का मूल्यांकन केवल उसके इरादों या क्रियान्वयन की गति से नहीं किया जा सकता, बल्कि उस दर्शन से किया जाना चाहिए जिस पर वह आधारित है। एक साधारण उदाहरण से समझें तो सरकार चुनना अच्छी और महंगी गाड़ी खरीदने जैसा है। गाड़ी तेज़ है, चालक कुशल है, लेकिन यदि सड़क ही गलत दिशा में जाती हो, तो वह गाड़ी आपको सही गंतव्य तक नहीं पहुँचा सकती। इउ जी सी के नए इक्विटी नियम इसी प्रकार की एक सड़क हैं, जिन पर बहस लेन की चौड़ाई, स्पीड ब्रेकर और समिति की संरचना तक सीमित है, जबकि असली प्रश्न यह है कि यह सड़क जाती कहाँ है। जनवरी 2026 में अधिसूचित इउ जी सी के इक्विटी नियम उच्च शिक्षा परिसरों में जातिगत भेदभाव समाप्त करने के उद्देश्य से लाए गए। सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों और पूर्व की घटनाओं का हवाला देकर इन्हें नैतिक वैधता प्रदान की गई, लेकिन इन नियमों ने प्रशासनिक से अधिक वैचारिक विवाद खड़ा कर दिया है।

सरकार की संशय से मजबूरी तक की यात्रा

इउ जी सी के प्रारंभिक ड्राफ्ट में यह प्रावधान था कि यदि कोई शिकायत झूठी या दुर्भावनापूर्ण पाई जाती है, तो उस पर दंडात्मक कार्रवाई होगी। यह प्रावधान अंतिम अधिसूचना से हटा दिया गया। यह परिवर्तन केवल नीति-निर्माण का तकनीकी निर्णय नहीं था, बल्कि स्पष्ट रूप से राजनीतिक दबाव का परिणाम था। दिसंबर 2025 में संसद की स्थायी समिति ने एस टी/एस सी के साथ ओ बी सी को भी इन नियमों में शामिल करने की सिफारिश की। समिति की रिपोर्ट को नज़रअंदाज़ करना संसद में सरकार के लिए असहज स्थिति पैदा कर सकता था। परिणामस्वरूप सरकार ने इसे "संसदीय प्रक्रिया" का हिस्सा बताया, लेकिन वस्तुतः यह एक राजनीतिक मजबूरी बन गई।

ओ बी सी समावेश और सत्ता का गणित

ओ बी सी को इक्विटी नियमों में शामिल करना सामाजिक से अधिक राजनीतिक निर्णय प्रतीत होता है। जनसंख्या के बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करने वाले इस वर्ग को बाहर रखना सरकार के लिए व्यावहारिक नहीं था। ड्राफ्ट में ओ बी सी का उल्लेख नहीं था, लेकिन समिति की सिफारिशों के बाद इसे शामिल किया गया। इससे एक ओर ओ बी सी छात्र संगठनों में संतोष दिखा, तो दूसरी ओर सामान्य वर्ग में असुरक्षा की भावना गहरी हुई। सरकार ने संतुलन का दावा किया, पर आलोचकों का कहना है कि यह संतुलन नीति का नहीं, बल्कि वोट बैंक का है।

रोहित वेमुला और नीति का राजनीतिक प्रतीकीकरण

इन नियमों की पृष्ठभूमि 2016 की रोहित वेमुला प्रकरण से जोड़ी जाती है। एक दशक बाद भी इस घटना को नीति-निर्माण का नैतिक आधार बनाना यह संकेत देता है कि सुधार से अधिक प्रतीकात्मक राजनीति हावी है। समर्थकों के अनुसार यह सामाजिक न्याय की निरंतरता है, जबकि आलोचकों के लिए यह हर संस्थागत समस्या को जातिगत चश्मे से देखने की प्रवृत्ति का उदाहरण है।

मूल समस्या इक्विटी का दर्शन

इस पूरे विवाद का केंद्रीय बिंदु इक्विटी की अवधारणा है, जिस पर अपेक्षाकृत कम चर्चा हो रही है। आपत्ति इक्विटी कमेटी की संरचना पर की जा रही है, लेकिन शायद ही कोई यह पूछ रहा है कि "इक्विटी" स्वयं न्याय के किस सिद्धांत पर आधारित है। न्याय का मूल सिद्धांत यह है कि अधिकार व्यक्तियों के होते हैं, समुदायों या समूहों के नहीं। सवर्ण अधिकार, दलित अधिकार, अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक अधिकार जैसी संकल्पनाएँ न्यायशास्त्र की मूल आत्मा से मेल नहीं खातीं। यदि किसी व्यक्ति के साथ उसकी पहचान के कारण अन्याय होता है, तब भी वह अन्याय व्यक्ति के साथ ही होता है, न कि पूरे समुदाय के साथ। इक्विटी का दर्शन असमानता को स्वतः भेदभाव मान लेता है और यह मानकर चलता है कि असमानता का एकमात्र कारण भेदभाव है। परिणामस्वरूप यह यह जाँचने की आवश्यकता ही समाप्त कर देता है कि वास्तव में किस व्यक्ति के साथ अन्याय हुआ है या हुआ भी है या नहीं। इस दृष्टिकोण में न्याय व्यक्ति-केन्द्रित न रहकर समूह-केन्द्रित हो जाता है। सामाजिक न्याय का सारा ताना-बाना इसी भ्रम के रेतीली जमीन पर खड़ी है।

सवर्ण चिंताएँ और झूठी शिकायतों का खतरा

सामान्य वर्ग की चिंता केवल प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं है। इक्विटी कमेटियों में आरक्षित वर्ग का बहुमत, 24 घंटे में कार्रवाई का दबाव और झूठी शिकायतों पर दंड के अभाव से यह आशंका पैदा होती है कि न्याय की प्रक्रिया स्वयं अन्याय का साधन बन सकती है। न्याय अपराधी और पीड़ित की समूह पहचान तय करके नहीं दिया जा सकता। यदि किसी व्यवहार को रोकना है तो उसे सार्वभौमिक रूप से अपराध घोषित करना होगा, न कि कुछ समूहों के लिए विशेष संरक्षण और दूसरों के लिए अनुमानित अपराधबोध खड़ा करके। जो पूरे समूह के लिए विशेष संरक्षण माँगता है, वह न्याय नहीं बल्कि विशेषाधिकार की माँग कर रहा है। और जो इस आधार पर अन्याय की शिकायत करता है कि उसका समूह संरक्षित नहीं रहा, वह भी विशेषाधिकार छूटने की शिकायत ही कर रहा है।

सुझाव न्याय को व्यक्ति-केंद्रित बनाइए

विषय - वर्तमान स्थिति - आवश्यक सुधार

झूठी शिकायतें - कोई दंड नहीं - दंडात्मक प्रावधान स्पष्ट रूप से जोड़े जाएँ
समिति संरचना - समूह आधारित प्रतिनिधित्व - व्यक्ति-आधारित, संतुलित और तटस्थ संरचना
न्याय प्रक्रिया - समूह पहचान आधारित - अपराध और पीड़ित की व्यक्ति-आधारित जाँच
इक्विटी कार्यालय - निगरानी केंद्र - काउंसलिंग और समाधान केंद्र
यदि उद्देश्य वास्तव में भेदभाव रोकना है, तो अपमानजनक और दुर्व्यवहारपूर्ण आचरण को सभी के लिए समान रूप से अपराध घोषित किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष व्यवस्था का अन्याय समाज का दंड

व्यक्तिगत अन्याय एक व्यक्ति को प्रभावित करता है, लेकिन जब अन्यायपूर्ण व्यवस्था खड़ी की जाती है, तो उसका दंड पूरे समाज को भुगतना पड़ता है। न्याय की प्रकृति ही ऐसी है कि जब व्यवस्था प्राकृतिक न्याय के विरुद्ध होती है, तो उसका परिणाम केवल एक वर्ग तक सीमित नहीं रहता। न्लब् के इक्विटी नियम यदि व्यक्ति-आधारित न्याय की ओर नहीं लौटे, तो वे समावेशिता के नाम पर नए विभाजन पैदा करेंगे। सड़क कितनी भी चिकनी क्यों न हो, यदि दिशा गलत है, तो मंज़िल भी गलत ही होगी।

सत्ता और समाज- पवञ्जय त्रिपाठी

सत्ता के चाटुकार सदैव सत्ता के पक्ष में ही तर्क गढ़ते हैं। परंतु सत्ताधीशों को यह समझना चाहिए कि पूरा समाज उनके पीछे नहीं चलता। समाज का अपना विवेक होता है, अपनी विश्लेषण क्षमता होती है। जब सोनिया गांधी के शासनकाल में बाबा रामदेव पर लाठीचार्ज हुआ, या "संसाधनों पर प्रथम अधिकार अल्पसंख्यकों का है" जैसे बयानों को सत्ता समर्थकों ने सही ठहराया तब भी यही प्रवृत्ति दिखाई दी। जब मुख्यमंत्री अखिलेश यादव ने मुस्लिम तुष्टीकरण की राजनीति के बीच बनारस में हिंदू साधु अविमुक्तेश्वरानंद पर लाठी चलवाई तब भी समर्थकों ने इसे जायज़ ठहराया। आज वही दृश्य दोहराया जा रहा है मोदी सरकार द्वारा यूजीसी बिल लाया जाना हो या योगी सरकार द्वारा हिंदू साधु अविमुक्तेश्वरानंद के साथ अपमानजनक व्यवहार सत्ता के चाटुकार हर बार सत्ता के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। यह सब इस बात का प्रमाण है कि सत्ता बदलती है, चेहरे बदलते हैं, लेकिन सत्ता-मानसिकता और उसके चाटुकार हमेशा एक जैसे रहते हैं।

दंभ का परिणाम

"दंभ (अहंकार) इंसान को गिरा देता है
चाहे वह योगी हो, मोदी हो,
अखिलेश यादव जैसा शिक्षित मुख्यमंत्री हो
या श्रीमती सोनिया गांधी जैसी कुलीन महिला ही क्यों न हों।" सत्ता के मद में चूर शासकों ने उन मुद्दों को, जिन्हें संवाद से सुलझाया जा सकता था, बल प्रयोग से दबाने की कोशिश की। बाबा रामदेव पर लाठियाँ चलीं, उन्हें अपमानित किया गया परिणामस्वरूप सत्ता भी गई और प्रतिष्ठा भी समाप्त हुई। इसी तरह, अहंकार में डूबे एक शिक्षित मुख्यमंत्री ने दुर्गा पूजा जैसे विषय पर हिंदू साधु पर लाठी चलवाई। उन्हें यह भान नहीं रहा कि संवाद से सुलझने वाले प्रश्नों पर दमन अंततः सत्ता को ही महँगा पड़ता है। आज न सत्ता है, न वह राजनीतिक परिवार की एकता जहाँ कभी विशाल कुनबा दिखता था, सत्ता जाते ही सब बिखर गया।

आज की सत्ता को चेतावनी

वही अहंकार और वही सत्ता का नशा आज योगी और मोदी के सिर चढ़कर बोलता प्रतीत होता है। जो योगी कभी संसद में रोते थे कि उन्हें बोलने का अवसर नहीं मिलता, आज वही दूसरों को बोलने से रोकते दिखाई देते हैं। जब अमिताभ ठाकुर या हिंदू साधु अविमुक्तेश्वरानंद अपनी बात रखते हैं, तो उनके विरुद्ध सीटियाँ बजवाई जाती हैं। साधुओं को घसीटा जाता है, अपमानित किया जाता है, जबकि उनकी रक्षा के लिए ही सरकार बनी थी उन्हें ही अपराधी बना दिया जाता है। यह सत्ता का नशा नहीं तो और क्या है?

अंतिम स्मरण

सोनिया गांधी और अखिलेश यादव के लिए मुसलमान सत्ता की दीवार बनकर खड़े थे।
महाराज, आप तो हिंदुओं के भरोसे सत्ता में हैंयह बात मत भूलिए।
"निर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सौ, सार भस्म होइ जाय॥"

गतांक से आगे

(विवेक और आदित्य का संवाद)

अनुषंगिक प्राप्तियां कभी भी उद्देश्य का विकल्प नहीं बन सकती हैं। ऐसे विषयान्तरात्मक परिणाम को उद्देश्य की प्राप्ति के रूप में स्वीकार करने वाला व्यक्ति कभी-भी व्यवस्था के तत्व को नहीं समझ पाता है, भला वह अपने जीवन में अराजकता के प्रभाव से कैसे मुक्त हो सकता है? .....हमे इस विषय का मन्थन करना होगा आदित्य। क्योंकि व्यवस्था की इस निष्फलता का कारण समाज का चारित्रिक पतन, आर्थिक असमानता, जातीय व साम्प्रदायिक भेदभाव, ऊँच-नीच, क्षेत्रवाद, भ्रष्टाचार या ऐसा कोई अन्य कारण नहीं है, बल्कि इस निष्फलता का कारण स्वराज्य शब्द के प्राकृतिक स्वभाव के विरूद्ध इसे सत्ताग्राही बनाने में निहित है। जिसके परिणाम स्वरूप समाज में ये समस्याएं बलवती हुई हैं। हम स्वराज्य की विषय-वस्तु का विवेचन वेदों से लेकर स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज के दसवें नियम से प्राप्त कर सकते है, गांधी के ग्राम गणराज्य के सिद्धान्त से प्राप्त कर सकते हैं, जयप्रकाश नारायण के लोकतन्त्रीय व्यवस्था के उल्टे पिरामिड के सिद्धान्त से कर सकते है या आधुनिक भारत में लोक नियन्त्रित तन्त्र अथवा लोक स्वराज्य के व्याख्याकार बजरंग मुनि के संस्मरणों से प्राप्त कर सकते हैं। मूलतः स्वराज्य का प्रकार व्यक्ति (तदर्थ में समाज) द्वारा सत्ता की नियुक्ति करने में निहित नहीं होता है बल्कि उसके द्वारा नियन्त्रित करने में होता है। तो क्या तू इन महापुरूषों के इस विचार से पूर्णतः सहमत है? .....वह पुनः प्रश्न करता है। नहीं। ऐसा नहीं है! मैं कभी-भी खुद को इन महापुरूषों का अनुयाई सिद्ध नहीं कर पाऊँगा। लेकिन समाज के लिए शक्ति के अकेन्द्रीयकरण के इनके विचार को, जोकि स्वराज्य की कल्पना के रूप में समाज में स्थापित है, को अपने मार्गदर्शक के रूप मे स्वीकार करता हूँ। लेकिन इन महापुरूषों का अनुयाई बनने में तुझे क्या समस्या हो सकती है और विशेषकर गांधी का अनुयाई कहलाने में? यदि मैं स्वयं को इन महापुरूषों का अनुयाई सिद्ध करूँगा तो आवश्यकता पड़ने पर स्थापित सामाजिक मान्यताएं मुझे इनके द्वारा स्थापित सिद्धान्त में परिवर्तन करके स्वीकार करने की अनुमति नहीं देंगी। अनुयाई कभी-भी यथार्थ के महत्व को नहीं समझ पाते हैं। प्रकृति हर क्षण परिवर्तनशील है। किसी काल में स्थापित होने वाला सिद्धान्त भविष्य में प्रासंगिक बना रहेगा, यह निर्णय करना तात्कालिक समाज का कार्य होता है। मृत महापुरूषों के चरित्र की सर्वांगीणता के स्तर से हमे अपने चरित्र के निर्माण का मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए न कि हमे यथार्थ के परिप्रेक्ष्य को बिना समझे उनके द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को प्रयोग के लिए बिना किसी विश्लेषण के स्वीकार कर लेना चाहिए। देशकाल परिस्थिति के अनुसार जो सिद्धान्त उपयुक्त हों हमे स्वीकार कर लेना चाहिए और जो न हों उसे नेपथ्य में ही रखना चाहिए। ऐसा न कर पाने वाला व्यक्ति प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव से साम्य नहीं बैठा पाता है और समाज के भौतिक ढाँचे को अस्त-व्यस्त करता जाता है। तू गांधी जी के किस सिद्धान्त को बिना विश्लेषण के स्वीकार नहीं कर सकता है और क्यो? राज्य की व्यवस्था के विषय में उनका न्यूनतम हिंसा का सिद्धान्त सदैव प्रासंगिक नहीं रह सकता है। यद्यपि मैं इस बात से पूर्णतः सहमत हूँ कि समाज को सदैव न्यूनतम हिंसा के सिद्धान्त का अनुपालन करना चाहिए और यह भी स्पष्ट है कि राज्य भी समाज में ही निहित होता है। समाज के निर्देशों के अनुसार राज्य, समाज के परिवेश में जिस व्यवस्था का प्रबन्धन करता है, उसका कार्यान्वयन करते हुए देशकाल परिस्थिति के अनुसार राज्य को समाज विरोधी तत्वों के विरूद्ध या उन्मूलन के लिए समुचित हिंसा का प्रयोग करना चाहिए। यह तर्क, नीति की प्रासंगिता को सिद्ध करता है। और ऐसा अधिकार प्राप्त करके यदि व्यवस्था (राज्य) ही नीति के विरूद्ध आचरण करके समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न करे, तब!

संस्थागत समाचार

धनारी में एक दिवसीय प्रशिक्षण शिविर आयोजित

सम्भल, 4 जनवरी 2026। मार्ग दर्शक सामाजिक शोध संस्थान के तत्वावधान में उत्तर प्रदेश के सम्भल जिले के धनारी गांव में एक दिवसीय ज्ञानयज्ञ प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। शिविर का आयोजन वयोवृद्ध सामाजिक साथी श्री बहादुर सिंह यादव द्वारा किया गया। प्रशिक्षण शिविर में सम्भल, बदायूं, मुरादाबाद और बुलन्दशहर जिलों से लगभग 80 प्रतिभागियों ने भाग लिया। ठंड के कारण प्रस्तावित 40 ज्ञान केंद्रों में से 25 ज्ञान केंद्रों के प्रतिनिधि प्रशिक्षण में शामिल हो सके। शिविर में मा संस्थान के अंतर्गत संचालित ज्ञानयज्ञ परिवार के कार्यक्रमों पर चर्चा की गई। प्रशिक्षण सत्रों में देशभर में ज्ञान केंद्रों के सामाजिक महत्व, उनके गठन और संचालन की प्रक्रिया, संविधान सभा के महत्व तथा परिवार सशक्तिकरण जैसे विषयों पर विस्तार से मार्गदर्शन दिया गया। शिविर में ऐसे प्रतिभागी भी उपस्थित रहे, जो ज्ञान केंद्र योजना को समझकर इससे जुड़ना चाहते हैं। प्रशिक्षण शिविर में प्रमुख रूप से ऋषिपाल सिंह यादव, नरेन्द्र सिंह (मेरठ), साध्वी साधना जी (बदायूं), सुभाष यादव, सुभाष हरफरी (संभल), योगमुनि (गुन्नौर क्षेत्र), राकेश कुमार (कौशांबी कार्यालय), देवदंत यादव (बरबाला), कल्याण सिंह यादव (पवसरा, संभल), कर्ण सिंह, अरुण कुमार, वेदप्रकाश, रमेश, पातीराम जी (मुरादाबाद), अभय सक्सेना (चंदोसी), राजवीर सिंह (बदायूं), नरेन्द्र सिंह यादव, नरेन्द्र सिंह (बरेली), रणवीर सिंह सहित अन्य लोग उपस्थित रहे।